योग और शिक्षा

योग और शिक्षा

कर्मयोगी राजेश

मयंक प्रकाशन

ग्राम – डाड़ी, पो० सगरा सुन्दरपुर

प्रतापगढ़

प्रकाशक

मयंक प्रकाशन

ग्राम-डाड़ी, पो० सगरा सुन्दरपुर, प्रतापगढ़
द्वारा प्रकाशित

★

प्रथम संस्करण - 2002

★

मूल्य | 140/- रुपये

★

लेजर कम्पोजिंग

ग्राफिक वर्ल्ड
Phone : 0532-552105

★

प्रिंटर्स

अग्रवाल बुक बाइन्डर,
इलाहाबाद

"*Yoga & Education*" By : "Karmyogi" Rajesh

समर्पण

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

परम् पूज्य गुरुदेव की अंतःप्रेरणा से, यम-नियम बीज भाव वाला आपको समर्पित यह योग आपके जीवन में आसन-प्राणायाम से अंकुरित हुआ और प्रत्याहार से पुष्पवाला होकर, धारणा-ध्यान समाधि से फलित हो।

मंगलाचरण

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।1।।

ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।2।।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।3।।

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोने की दशा में बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति अर्थात इन्द्रियों का प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

कर्मशील, मनीषी धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्र में तथा जीवन संघर्ष में बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अंदर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

जो नये-नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुए का अनुभव कराता है, संकट में धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अंदर एक अमर ज्योति है जिसके बिना कोई कर्म नही किया जाता, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

विषयानुक्रमणिका

योग और शिक्षा

आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव अंग्रेजो द्वारा रखी गयी है। इस शिक्षा का उद्देश्य मात्र कार्यालयों में कार्य करने हेतु कर्मचारी उपलब्ध करना था। साथ ही अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिये वे लोग हमारी सभ्यता, संस्कृति की खिल्ली उड़ाते थे। हमारे शास्त्रों की बातो को बकवास बताते थे। अपनी सभ्यता और संस्कृति, साहित्य ओर ज्ञान का बखान बढ़ा चढ़ाकर करते थे। उन्होने हमारे समाज, हमारी सोंचो को इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर दिया कि, हमने स्वयं ही अपनी सभ्यता और संस्कृति को तुच्छ घोषित कर दिया तथा इसे छोड़कर उनका अंधानुकरण आरम्भ कर दिया।

अंग्रेजो के आने के पहले हमारे यहाँ कोई शिक्षा व्यवस्था लागू नही थी और प्राचीन शिक्षा व्यवस्था मुसलमानों के आक्रमण से नष्ट भ्रष्ट हो चुकी थी बहुत से मूल्यवान ग्रंथ शिक्षालय उन आक्रमणों में नष्ट हो चुके थे। अतः जन सामान्य को हमारे प्राचीन शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं था। यद्यपि आज भी वही स्थिति बनी हुई। हम केवल प्राचीन पुस्तकों के नाम अपना सामान्य ज्ञान बढ़ाने के उद्देश्य से याद कर लेते हैं, परन्तु उनमें कौन सी बाते लिखी है यह जानने का प्रयत्न नहीं करते। क्योंकि हमारी शिक्षा प्रणाली में भारतीय प्राच्य विषयों का ज्ञान सूचनात्मक है। योग आदि के सम्बन्ध में यदि भूले से कहीं जिक्र आता हैं तो उसके सम्बन्ध में केवल सूचनात्मक ज्ञान ही दिया जायेगा यथा, योग के प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं। योग दर्शन चार पादो समाधिपाद, साधन पाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद में कुल 196 सुत्रों में वर्णित है। यह 'विचारों' का विज्ञान हैं। इसके अध्ययन के लिये विशेष श्रम की आवश्यकता है। आदि! यह सूचनात्मक ज्ञान इस प्रकार दिया जाता है कि व्यक्ति की उस विषय मे रुचि जाग्रत न हो अथवा जाग्रत हो भी जाय तो उसे कठिन समझकर टाल दे।

शिक्षा के साथ ही हमारे समाज की पुनर्रचना भी उन्हीं के द्वारा की गयी। सती प्रथा, बाल विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के साथ उन्होने हमार प्राचीन मान्यताओं जो शाश्वत सत्य हैं उनके प्रति संदेह का वीजारोपण किया। हमारी मूर्ति पूजा, व्रतों आदि की खिल्ली उड़ाई। जिसका प्रभाव आज भी हमारे समाज मे दिखाई पड़ता है एक वर्ग इन्हें मानता है दूसरा वर्ग नही मानता। क्योंकि उन्हे भय था कि योगशास्त्र के सिद्धान्तों को अपना कर ये भारतीय अपनी आत्मशक्ति इतनी विकसित कर लेंगे कि उन्हे वापस भगा देगे। आश्चर्य मत कीजिये। स्वामी विवेकानन्द की याद कीजिये। योग के बल पर ही उन्होने अमरीका में अपना झण्डा फहराया था। ओर उनकी (अंग्रेजो की) आशंका सत्य भी हुई। युग पुरुष महात्मा गांधी ने योग शास्त्र के दूसरे यम 'सत्य' को सिद्ध करके वास्तव में उनको वापस जाने पर मजबूर कर दिया।

जैसा कि ऊपर मूर्तिपूजा, व्रत, त्यौहार आदि का जिक्र करते आये हैं, ये सब योग शास्त्र के सिद्धान्त पर आधृत हैं। संसार के सभी प्रमुख धर्म ईश्वर को निर्विकार मानते हैं तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा, इन्द्रिय निग्रह तथा ईश्वरीय नियमों के अनुकूल आचरण की शिक्षा देते हैं। हमारा योग शास्त्र भी ईश्वर के निर्विकार स्वरूप को मानता है तथा ईश्वर प्रणिधान ही प्रमुख योग है। परन्तु निर्विकार स्वरूप से तादात्म्य सामान्यतया करना अत्यंत कठिन है। अतः साधक सर्वप्रथम किसी मूर्ति अक्षर या ध्वनि आदि में 'संयम' करता है। जव स्थूल विपय में 'संयम' की स्थिति दृढ़ हो जाती हे तव वह क्रमशः सुक्ष्म विपयों में 'संयम' करता है, जव अत्यंत सूक्ष्म विपयों में दृढ स्थिति हो जाती है तव वह उन्हें भी छांड़ देता है। ईश्वरीय नियम जिन्हें योग शास्त्र मे 'यम' से संवोधित किया गया है सभी धर्मो द्वारा कम या अधिक रूप से प्रतिपादित किये गये हे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह प्रत्येक देश, काल, परिस्थिति में पालन करने योग्य महाव्रत हैं। इनके पालन करने वाले महाव्रती देश, समाज आदि के लिये अद्भुत कार्य कर जाते हैं और समाज में महापुरुष के नाम से अमर हो जाते हैं। उपरोक्त यमों के पालन जन साधारण के लिये सर्वथा और सर्वदा कठिन है। अतः अल्प व्रत का मार्ग हमारे समाज में प्रशस्त है यथा 'सत्यनारायण व्रत' के दिन हम यह संकल्प करते हैं कि उस दिन के लिये हम सत्य का पालन करेगे। अपनी आस्था और श्रद्धा को ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं अपने परिजनो मित्रो परिचितों को बुलाकर अपने व्रत की घोषणा करते हैं, तथा किसी विद्वान से 'सत्य व्रत' के पालन की महिमा फल आदि की व्याख्या करवाते हैं। व्रत के प्रतीक के रूप म 'प्रसाद' वितरण इस मौन निवेदन के साथ करते हैं कि आप भी इस व्रत का पालन

मन वचन कर्म से करे तथा अपने प्रभाव क्षेत्र म आने वाले व्यक्तियो से पालन करवाने का प्रयास कर. इस प्रकार के अन्य व्रतो का फल भी अल्प होता है, परन्तु धीरे-धीरे निरंतर अभ्यास और श्रद्धा से यही, अल्प व्रत महाव्रत में बदल जाते हैं। कल्पना कीजिये कि उपरोक्त यमों का विश्व के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पालन किया जाय तो कैसा रहेगा?

संसार के प्रत्येक धर्म के प्रवर्तक जो निःसंदेह महान योगी हुए हैं और जिन्होने ईश्वर साक्षात्कार के बाद भी अपने शरीर का त्याग लोक कल्याणार्थ नही किया हे, जानते थे कि जन सामान्य के लिये इन ईश्वरीय नियमों का पालन सर्वदा, सर्वथा कठिन है। परन्तु इनके अल्परूप पालन के निरंतर अभ्यास से एक समय इन्हे सम्पूर्ण रूप से पालन करने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी आशा से उन महान व्यक्तियों देश, काल, परिस्थिति तथा उन भोगौलिक क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियो के अनुकूल कुछ सामान्य नियमों का आचरण इस निर्देश के साथ बताया कि इनका पालन स्वयं करें और अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों मे करवाने का प्रयत्न करे। आगे चलकर यही 'धर्म' कहलाये 'अहिंसा' और 'इन्द्रिय' निग्रह' प्रत्येक धर्म का मूल है। प्रत्येक धर्म में व्रत, त्यौहार आदि प्रशस्त है जिनका उद्देश्य अहिंसा आदि धर्मो का अल्प व्रत के रूप में पालन है। यदि कोई त्यौहार किसी महापुरुष के नाम पर है तो हम उन महापुरुष के गुणों को ग्रहण कर अपने आचरण में लायें। योग शास्त्र की ऐसी मान्यता है कि किसी 'वीतराग सिद्ध पुरुष' से तदात्म्य करने पर व्यक्ति उन्हीं के गुण वाला हो जाता है। सभी धर्मो की यह एकरूपता योग शास्त्र मे वर्णित यमो, नियमों आदि को ईश्वरीय नियम दताती है। वास्तव में ये यम ही मानव धर्म हैं। यही विश्व धर्म बनने की क्षमता रखता है। क्योंकि यह देश, काल परिस्थिति आदि से बाधित नही है। क्योंकि यह मानव के वास्तविक स्वरूप को दर्शाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में, अंग्रेजों द्वारा व्यावसायिक, व्यावहारिक तकनीकी शिक्षा आदि का जो ज्ञान सुव्यवस्थित ढंग से दिया गया तथा एक सुव्यवस्थिति शिक्षा प्रणाली दी गयी वह निःसंदेह सराहनीय है। उस समय लगभग एक हजार वर्षों से हमारे ज्ञान का विकास अवरुद्ध पड़ा था। परन्तु उन्होने हमारे प्राचीन ज्ञान को, जो आत्म विकास के लिये अत्यंत आवश्यक है, उपेक्षा की दृष्टि से देखा तथा हमारे समाज में भी उसके प्रति उपेक्षा की भावना का प्रचार किया फलस्वरूप अधिकाश लोग इस ज्ञान को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे और वे लोग जो इसमें श्रद्धा रखते थे, उदासीन हो गये। आज भी वही स्थिति वरकरार हैं। आज दी जाने वाली शिक्षा मात्र धनार्जन हेतु पर्याप्त है। परन्तु इस अत्यधिक धन का क्या उपयोग होना चाहिये

इस विषय मे मोन है चूकि आधुनिक शिक्षा का कोइ दृढ आधार नही है तथा व्यक्ति को उसक मानव जीवन का उद्देश्य नही बताया गया है इसलिये मनुष्य भौतिक रूप से अत्यधिक समृद्ध हो जाने के बाद भी अशान्त रहता है, स्वयं को पूर्ण नहीं पाता। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने तथा जीवन का उद्देश्य न ज्ञात होने के कारण अपनी अपूर्णता की पूर्णता धनादि भौतिक साधनों में देखता है। यह सत्य भी हे। वहुत से अत्यंत समृद्धशाली लोग भी अनुचित रीति से धनार्जन करते हुए देखे जाते है। क्योंकि उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नही है।

यदि हम कहें कि आपके जीवन का उद्देश्य मोक्ष है। उसी में आपकी पूर्णता हे तो आप इस वात को ग्रहण नहीं करेंगे। आप कहेंगे यह कपोल कल्पित बात है। मोक्ष जैसी कोई वस्तु नही। या अधिक नहीं तो आप मुझे 'साम्प्रदायिक' होने का आरोप लगा दें। यह स्वाभाविक ही है, लगभग हजार वर्षो के अशिक्षा और उथल-पुथल भरी जिन्दगी के बाद जब हमारे समाज में शिक्षा की नींव रखी गयी तो हमारी प्राचीन मान्यताओं, जो शाश्वत सत्य और मानव जीवन का प्रमुख आधार थी, को कपोल कल्पित कह कर उपेक्षा के गर्त में डाला गया। परिणाम यह है कि आज हममे से अधिकांश व्यक्ति इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोग अध्ययन करते हे परन्तु तटस्थ दृष्टि से। अपने जीवन में अपनाने वाले वहुत कम हैं, कुछ अपनाते हे परन्तु आने वाली बाधाओं से डरकर वीच में छोड़ देते हैं परन्तु जो कोई भी सत्य सकल्प होकर योग मार्ग को अपनाते हैं वे ही युग पुरुष वन जाते हैं।

योग का अर्थ है 'जोड़ना', मिलाना। मुख्य उद्देश्य जीव का ब्रह्म से मिलाना है। परन्तु उसके पहले मानव का मानव से जुड़ना आवश्यक है। मानव ईश्वर का अंश है प्रथमतः हम उससे जुड़ने का मिलने का अभ्यास करते हैं जब हमारा अभ्यास परिपक्व हो जाता है तभी हम स्वयं को ईश्वर से जोड़ पाते हैं। हमारा लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति भले ही न हो परन्तु शान्ति प्राप्त करना तो होता ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन मे शान्ति प्राप्त करना चाहता है। इसके लिये परम आवश्यक है कि हमारा व्यवहार अन्य प्राणियों के प्रति सौहार्द पूर्ण हो। हम जिस प्रकार का आचरण अन्य प्राणियों के प्रति करेंगे उसी प्रकार का आचरण हमारे प्रति उन प्राणियों द्वारा किया जायेगा। सामान्यतया हमारी यही इच्छा होती है कि हामरे प्रति लोगों का बर्ताव सहानुभूतिपूर्ण हो, हमे अच्छे दृष्टिकोण से देखा जाय। इसका सरलतम उपाय है कि जिनसे हम ऐसी आशा करते हैं उनके प्रति अपने विचार तथा व्यवहार इसी प्रकार रखें। योग का यह प्रथम चरण है। दूसरा चरण स्वयं को इस योग्य बनाने के लिये आत्मशोधन। आत्मशोधन द्वारा स्वयं को निर्मल तथा इतना मजबूत वना लेना कि कठिन तथा विपरीत

परिस्थितियो म विचलित न हाना. व्यक्ति का समाज म रहकर समाज तथा अपने आत्मिक विकास का कार्य पड़ता है। कम से कम जीविकोपार्जन कार्य तो करना ही पडता है। हमारा 'योग' भी व्यक्ति को सामज में रहते हुए, अपने कर्तव्य कर्मो को अनासक्त भाव से करने का आदेश देता है। इसके लिये व्यक्ति को देर तक श्रम करने लायक निरोग शारीरिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। अतः तीसरे चरण मे आसन आदि से इसकी पूर्ति की गयी है। किसी क्षेत्र विशेष में महारत हासिल करने हेतु चित्त की एकाग्रता अत्यत आवश्यक है। प्राचीन काल की मूर्तिकला, शिल्पकला आदि पर नजर डालें। आप आश्चर्य चकित होंगे। उस जमाने में आज की तरह मशीनें नहीं थी। जो कुछ भी बनाया गया है वह हाथ का वनाया हुआ है निःसंदेह यह उनकी मानसिक एकाग्रता का कमाल है। आज भी बड़े-बड़े आविष्कार, संगीत, साहित्य, आदि सभी क्षेत्रों में चरम उपलब्धियाँ मानसिक एकाग्रता का फल है। अत योग के चौथे चरण में मानसिक एकाग्रता पर वल दिया गया है। इसके आगे स्वयं की आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति के उपाय बताये गये हैं।

यदि आपका 'मोक्ष' आदि जैसे विषय में विश्वास नही तो भी आपका उद्देश्य अपने जीवन में शान्ति स्थापन अवश्य होगा। परन्तु व्यक्तिगत जीवन में शान्ति स्थापन तभी सम्भव है जव सम्पूर्ण विश्व में शान्ति हो। यदि आप 'मोक्ष' को ही परम् लक्ष्य मानते है तो भी विना 'आत्मिक शान्ति' के उसे प्राप्त करना सम्भव नही है। इसके लिये जैसा कि हम ऊपर कहते हैं विश्व में शान्ति स्थापना आवश्यक है। अत दोनो दशाओं में हमें कल्याणार्थ कार्य करना ही है। यह हमारा कर्त्तव्य है। अर्थात समाज में रहते हुए निर्धारित कतर्व्य कर्मो को निष्काम भाव से करने में दोष दृष्टि नही रहती।

जैसा कि सामन्य रूप से यह समझा जाता है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये घर परिवार, समाज छोड़कर जंगलों में जाकर तपस्या करनी पडती है तो यह सव भ्रांतियां है। इसी समाज में रहकर मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है। यदि वह इन्हें छोड़कर ज्ञान प्राप्त कर भी लेता है तो भी उसे ज्ञान प्राप्ति के वाद इस समाज में पुनः वापस आकर लोक कल्याणार्थ कार्य करना पड़ता है। 'महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, प्रभु ईसा, मुहम्मद साहव आदि परम योगियों ने ज्ञान प्राप्ति, ईश्वर साक्षात्कार (जीवन का अतिम लक्ष्य) के वाद भी इस समाज में रहकर कुछ समय तक लोक कल्याणार्थ कार्य किया था। योग शव्द को उसके अपने सामान्य अर्थ में लेते हुए, उपरोक्त वातो के आधार पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि योग शास्त्र मानव को प्राणियों से मिलकर रहने

की शिक्षा देता है। यह देश, समाज, घर, परिवार आदि से पलायन की शिक्षा नही देता। बल्कि उनके साथ मिलकर सौहार्द पूर्ण वातावरण में साथ-साथ कार्य करने की शिक्षा देता है यह देश, काल, समय, धर्म, सम्प्रदाय आदि से वाधित नही है। यह मानव का मानव के प्रति धर्म की शिक्षा देता है सही मायने में यही 'विश्व धर्म' बनन की क्षमता रखता है।

हमारा समाज समष्टि रूप से चार वर्णो में वंटा हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण वह वर्ग जो समाज में किसी भी प्रकार का ज्ञान बांटने का कार्य करता है तथा उस कार्य से प्राप्त धन ही उसकी जीविका का मुख्य आधार है। शिक्षक, वकील, 'डाक्टर', न्यायाधीश, पत्रकार आदि में 'क्षत्रिय' वह वर्ग जो समाज मे रक्षा वृत्ति अपनाता है तथा इस कार्य से प्राप्त धन ही जिसकी जीविका का प्रमुख साधन है। वैश्य वर्ग की जीविका का प्रमुख आधार व्यापार तथा कृषि कर्म है। शूद्र वर्ग समाज का वह वर्ग है जो किसी भी सेवा कार्य से जुड़ा हुआ है तथा यही उसकी जीदिका का प्रमुख आधार है। इसके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के वर्ग देखने को मिलते हैं एक वे जो समाज के कल्याणार्थ सतत् कार्यशील है परन्तु यह कार्य उनकी जीविका का साधन नही है। वे अपने कार्य सेवाओं के बदले किसी वस्तु की अपेक्षा नही करते। लोक कल्याण ही जिनका लक्ष्य है। वे ही वास्तव में सच्चे लोक सेवक हैं। उनका जीवन धन्य है। इन महापुरुषों का आचरण ही समाज के लिये अनुकरणीय है। इनका आचरण ही हमारे लिये अनुकरणीय है। इनका आचरण और व्यवहार समाज रूपी यंत्र के लिये 'स्नेहक' का कार्य करता है। हममें से प्रत्येक को इनके पास जाकर ज्ञान की याचना करनी चाहिये। दूसरा वर्ग है जो पापाचार जैसे, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, रिश्वतखोरी, घोटालों आदि में लिप्त है। ये व्यक्ति समाज के किसी वर्ण मे नहीं आते क्योंकि उपरोक्त निन्दनीय कर्म करते ही ये अपने स्वाभाविक वर्ण से च्युत हो जाते हैं। अतएव समाज को इनका बहिष्कार करना चाहिये तथा उनकी अपराध की मात्रा में दण्ड देने की व्यवस्था करनी चाहिये। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि उन्हें नष्ट कर दिया जाय बल्कि उन्हे प्रायश्चित करने और सुधरने का अवसर प्रदान करना चाहिये। सुधार के बाद समाज द्वारा अपना लिया जाना चाहिये।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में योग के साधनो को अपनाने का कोई प्रावधान नही है। यदि कहीं पर कोई शिक्षा दी भी जाती है तो वह आंशिक रूप से ही नैतिक शिक्षा, व्यायाम शिक्षा, समाज शास्त्र आदि विषयों रूप में दी जाती है। ये सभी विषय एक पक्षीय हैं तथा इनका ज्ञान व्यक्ति को सूचनात्मक रूप से दिये जाते हैं। इनमें लिखी हुई बातों को व्यक्ति अपने जीवन में अपनाने से हिचकिचाता है। पाठ्य पुस्तको मे

वर्णित आचरणीय बातों को मनुष्य अपने सामान्य जीवन में अपनाने से भय खाता है। उसे किताब में लिखी हुई बात मानता है। वह इस बात की चर्चा भी नहीं करता कि फला पुस्तक में तप, स्वाध्याय ओर ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग कहा गया है। क्योंकि उसे भय है कि समाज में उसकी हँसी उड़ायी जायेगी। यह स्वाभाविक भी है हमारे समाज में वर्षो से इस बात की नींव डाली गयी है। ऐसे विषयों का मजाक उडाने या उपेक्षा करने की परम्परा बनायी गयी है। तथा हमारी शिक्षा-दीक्षा भी आत्मिक विकास के प्रति उदासीन है। हमारे कहने का तात्पर्य यह कदापि नही है कि आज पढाये जाने विषयों को त्यागकर केवल योग शिक्षा दी जाय या अन्य विषयों को गौण रूप में रखकर योग शिक्षा को प्रमुख रूप दिया जाय। हमारा तात्पर्य यह है कि योग को शिक्षा के साथ इस प्रकार समाहित किया जाय कि व्यक्ति का क्रमशः आत्मविकास होता जाय जिससे कि शिक्षा पूर्ण कर लेने के वाद वह स्वयं को पूर्ण महसूस करे। हमारा विश्वास है कि ऐस पूर्ण व्यक्ति देश तथा समाज के लिये अत्यंत लाभदायक होगा। वह अपना रास्ता स्वयं चुन लेगा, आज के नवयुवकों की भांति बेरोजगारों की सख्या में वृद्धि नहीं करेगा। और जिस भी क्षेत्र में जायेगा अग्रणी होगा।

इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में क्लेश अर्थात दुःख का कारण तथा इसके नाश करने के योग के साधन अप्टांग योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि का परिचय दिया गया है। प्रथम पाँच साधन योग के वहिरंग साधन कहलाते हैं। इनके साधन से आत्म शोधन कर अन्य प्राणियों के प्रति अपने व्यवहार को सौम्य बनाया जाता है। पॉच यम-अहिसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन किया गया है तथा इनका किस सीमा तक पालन करना और करवाना चाहिये। परन्तु इनका पालन मानव स्वभाव के लिये कठिन है। विना आत्मशोधन और श्रद्धा तथा विश्वास के सर्वदा यमों का पालन बाधित होता है। इसके लिये पाँच नियमो- शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की व्यवस्था दी गयी है। ये नियम व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत नियम हैं। जहाँ तक स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की बात है व्यक्ति प्रारम्भ में अपने सम्प्रदाय धर्म के शास्त्रों और गुरुओं के अनुसार बताये गये स्वरूपों के अनुसार साधना करे। ज्ञान की स्थिति परिपक्व होने पर सभी सम्प्रदाय, धर्म एक जैसे प्रतीत होने लगेंगे क्योंकि ये सभी एक ही ईश्वर के स्वरूप का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। लोक कल्याण में व्यक्ति के शरीर का भी महत्व है। स्वस्थ, नीरोग, सुगठित शरीर से देर तक कार्य किया जा सकता है। अतः इसके लिये आसन आदि का वर्णन है। किसी भी विषय का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने और कार्य करने हेतु मन का एकाग्र होना भी

आवश्यक है। प्राणायाम तथा इन्द्रिय निग्रह द्वारा मानसिक एकाग्रता के सम्बन्ध में विचार किया गया है। प्रस्तुत खण्ड विद्यार्थियों तथा गृहस्थों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। विद्यार्थियो को अपना चारित्रिक तथा आत्मिक विकास करना होता है। गृहस्थों के लिये यह ज्ञान इसलिये आवश्यक है क्योंकि भावी पीढ़ी का उत्तरदायित्व उनके ऊपर होता है। उनका चारित्रिक मानसिक विकास इनका फर्ज है साथ ही स्वय का आत्मिक विकास करना आवश्यक है।

शिक्षालयों में प्राथमिक स्तर पर शिक्षार्थियों को यम, नियम आदि का सामान्य ज्ञान दिया जाना चाहिये। प्रेरणादायक कहानियों, महापुरुषों के जीवन चरित्र आदि के माध्यम से इनकी शिक्षा देनी चाहिये। क्योंकि कम अवस्था के बालकों का मस्तिष्क उतना परिपक्व नही होता कि अति सूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर सके परन्तु कहानियो घटनाओं आदि के माध्यम से अहिंसा आदि विषयों को भली प्रकार उनके मन मे बेठाया जा सकता है। यही नहीं महापुरुषों आदि के जीवन चरित्र को अपने जीवन में अपनाने की प्रेरणा देना चाहिये। जिस बालक को जिस भी महापुरुष का जीवन चरित्र अधिक अच्छा लगता है उसे उनके वारे में अधिक से अधिक जानकारी देनी चाहिये। उनके हाव-भाव उनकी जीवन की घटनाओं को बच्चे को ग्रहण करने का अभ्यास करवाना चाहिये। नाटक, प्रहसन, गीत आदि में बच्चों की सहभागिता होनी चाहिये। नाटक आदि में जब बालक अपने प्रिय पात्र का अभिनय करता है तो वह उसके गुणों को ग्रहण करता है। बालक स्वयं में अपने प्रिय पात्र को देखता है। अपनी कमियों को दूर कर पात्र की अच्छाइयों को ग्रहण कर स्वयं को पात्र के अनुरूप बनाता है। बचपन की स्मृतियां वहुत दिनों तक बनी रहती हैं। यदि यही अभ्यास लगातार कराया जाता रहे और उन्हें समाज द्वारा प्रोत्साहन मिलता रहे तो बड़े होने पर व्यक्ति में उन्हीं गुणों का समावेश रहता है और उसके कार्य व्यवहार कालान्तर मे निःसंदेह महापुरुषों जैसे होगे। परन्तु शिक्षालयों द्वारा अभ्यास न कराये जाने और समाज द्वारा प्रोत्साहन न दिये जाने के कारण यही गुण समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही चूंकि बचपन में शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है इसलिये आसन आदि का अभ्यास करवाना चाहिये इससे शरीर का सर्वांगीण विकास होता है। बाल्यकाल में मन भी सरलता से एकाग्र हो जाता है। अतः प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम द्वारा प्राणों की गति रोककर अथवा धीमी कर अति चञ्चल मन को साधा जाता है। मन के एकाग्र होने पर हम जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहेगे उसका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

किशोरावस्था संधि की अवस्था है। बालक बचपन छोडकर यौवन अवस्था मे

प्रवेश करता है उसमे शारीरिक मानसिक परिवर्तन होते हैं इन परिवर्तनो से किशोरो मे उत्तेजना अधिक रहती है। यदि उन्हें इस अवस्था में सावधानी पूर्वक शिक्षा न दी गयी तो उनके मार्ग भ्रष्ट होने की संभावना बनी रहती है। इसी काल में किशोर अपने रुचि के अनुसार अपने जीविकोपार्जन का क्षेत्र चयन करता है। अतएव माध्यमिक स्तर पर दी जाने वाली शिक्षा अधिक सावधानी पूर्वक दी जानी चाहिये। इस अवस्था में यौन शिक्षा और इन्द्रिय निग्रह के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी देनी चाहिये। यम, नियम आदि का ज्ञान उनके वास्तविक रूप में कराना चाहिये। प्रकृति, पर्यावरण, समाज, देश आदि के प्रति प्रेम की भावना जाग्रत करना चाहिये। इन भावनाओं को सतत बनाये रखने के लिये समय-समय पर कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिये। विद्यालय से दूर स्थानों पर बालकों को ले जाकर शिविर आदि लगाना चाहिये तथा वहाँ रहने वाले स्थानीय लोगों से अधिक से अधिक सम्पर्क बनाने का प्रयास करना चाहिये। समय-समय पर विद्यालयों में महापुरुषों को बुलाकर सभा आदि का आयोजन करना चाहिये।

नवयुवकों तथा किशोरों को अपने खाली समय का उपयोग, संगीत, चित्रकला, खेल आदि में करना चाहिये परन्तु यह ध्यान रखे कि जो भी कार्य आप करें पूरे मनोयोग से करें। अपने मित्रों के साथ सम सामयिक विषयों पर चर्चा, समाचार पत्रो का नियमित वाचन तथा प्रमुख घटनाओं को स्मरण रखना चाहिये। अपनी दिनचर्या नियमित रखनी चाहिये प्रत्येक कार्य की अवधि निर्धारित करके कार्य करने से व्यवस्था बनी रहती है। मन को एकाग्र रखने का अभ्यास करना चाहिये इसके लिये प्राणायाम और त्राटक आदि का अभ्यास नियमित रूप से करना चाहिये। अपनी स्मरण शक्ति का विकास करना भी अत्यंत आवश्यक है। इसके लिये डायरी लेखन, अपनी दिनचर्या का स्मरण करना, किसी भी घटना, दृश्य, कहानी आदि का क्रमबद्ध रूप से सरल शब्दों में व्यक्त करना। नये ज्ञान को ग्रहण करना तथा स्मृति में बनाये रखना आदि कार्यो से स्मरण शक्ति का विकास होता है। तात्पर्य यह कि अपने समय का नियोजन इस प्रकार करें कि मन-मस्तिष्क, जाग्रत अवस्था में सदैव सक्रिय रहे। मन को सुख-दुःख आदि की कल्पना में कभी न रमने दें।

हम समाज में रहकर ही अपना विकास करते हैं। भाषा विज्ञान, शिक्षा, सस्कृति, आदि का ज्ञान और विकास समाज से प्राप्त होता है और समाज मे होता हे। यदि इनको प्राप्त करना हमारा अधिकार है तो हमारा कर्त्तव्य है कि, हम अपने प्राप्त ज्ञान को बाँटे। शिक्षा का तात्पर्य है पिछली पीढ़ियों के अनुभवों को आने वाली पीढी को बताना। शिक्षा देने और लेने का अधिकार सबको है। देने और लेने में कोई

विभेद नहीं करना चाहिये। विद्या का यह धन सभी धनों में प्रधान है तथा इसकी विशेषता यह है कि यह व्यय करने पर वढ़ता है और संचय करने पर घटता है।

यदि आपमें ज्ञान बॉटने की इच्छा उत्पन्न होती है तो आपके समक्ष दो समस्या आती है प्रथम तो ज्ञान किसको दिया जाय और किन वातों का ज्ञान दिया जाय। तो आप कही दूर मत जाइये अपने पुत्र, भतीजे, भाई आदि जो भी वालक आपके अत्यंत निकट हो उसी से प्रारम्भ कीजिये। आश्चर्य करने की आवश्यकता नही है उसे आपसे अच्छा गुरु कहाँ मिल सकता है वह तो हर प्रकार से आप ही के आश्रित हे। क्या आप उसे कार्य की व्यस्तता का वहाना वनाकर दूसरों पर निर्भर छोड़ देंगे? नही, तो अभी से उसके लिये एक निश्चित समय निर्धारित कर लीजिये। अपने अनुभवा पर विचार कीजिये बालक को बताने लायक वातें जो उसके चारित्रिक आत्मिक विकास हेतु आवश्यक प्रतीत हों क्रमवद्ध कीजिये और उन्हें धीरे-धीरे बालक को वताने लगिये। उनका नियमित रूप से अभ्यास करवाइये समय-समय पर उनकी परीक्षा भी लेते रहिये। कुछ समय वाद आप स्वयं में भी परिवर्तन पायेंगे।

जिस प्रकार समष्टि रूप से छः प्रकार के सामाजिक व्यक्तियों का वर्णन किया गया है उसी प्रकार व्यष्टिरूप से आपमें भी छः प्रकार के व्यक्तियों का समावेश है। ज्ञान वाँटते समय आपका ब्राह्मण रूप होता है घर-परिवार की रक्षा कार्य करते समय आपका क्षत्रिय रूप होता है। भरण-पोषण का कार्य करते समय वैश्य रूप होता है तथा अतिथि गुरु, माता-पिता आदि की सेवा का कार्य करते समय शूद्र रूप होता है। यह आपके व स्वरूप है जिससे आपके लोक व्यवहार की गाडी चलती है। ये सभी रूप शरीर के अंगो की तरह समान महत्ता वाले हैं। अतः अपने इन स्वरूपो का सर्वांगीण विकास करना चाहिये। यदि इनकी तुलना शरीर के अंगो से करते हुए ब्राह्मण रूप का निवास मुख में क्षत्रिय रूप का निवास भुजाओं में वैश्य रूप का निवास जंघाओ मे ओर शूद्र रूप का निवास पैरो में माने तो भी हमारे लिये ये सभी अंग समान महत्त्व के हें। हमारा लक्ष्य स्वयं में निवास कर रहे उस आदर्श पुरुप का विकास करना है जो नि स्वार्थ भाव से लोक सेवा करता है और विश्व शान्ति में योगदान देता है। परन्तु अपने भीतर निवास कर रहे उस पुरुप का विनाश किये विना जो ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, क्रोध, मोह आदि से युक्त हमारे कार्य में रोड़े अटकाता है, सम्भव नहीं है। इसके लिये सर्वप्रथम हमें उसके कारण अविद्या आदि क्लेशों को जानना चाहिये तथा उन क्लेशो को योग साधनों द्वारा दग्ध वीज कर उनके अंकुरण की शक्ति समाप्त करनी चाहिये। अकुरण शक्ति समाप्त हो जाने पर ऐसे पुरुप का स्वतः ही नाश हो जायेगा।

□□

'क्लेश'

हम अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहते है। हमारे प्रत्येक कार्य कलाप के पीछे सुख प्राप्ति की भावना निहित होती है। किसी वस्तु (लक्ष्य) को प्राप्त करने के बाद भी हमें सुख का अनुभव नही होता अथवा क्षणिक सुख प्राप्त होने के बाद दुःख का ही अनुभव होता है, और नही तो उसके छिन जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय तो बना ही रहता है, और इस भय के कारण मन को दुःख की प्रतीति होती है।

इसका कारण यह है कि, हमारा चित्त सांसारिक वासनाओं राग द्वेष आदि से कलुषित है। हम अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये दूसरों को कष्ट देने से भी नही चूकते। यही कारण है कि हमें अपने सामान्य जीवन में अनेको बाधाओं और दुःख का सामना करना पड़ता है। वास्तव में दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार ही हमारे लिये दुःख का कारण है। यह व्यवहार चित्त में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष आदि पाँच क्लेशों के संस्कार रूप गुणों का परिणाम है। क्रियायोग के तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को अपना कर चित्त भूमि में स्थित इन क्लेशो को तनु करके मनुष्य अपने जीवन को सुखमय बना सकता है।

क्लेशों के संस्कार बीज रूप में चित्त भूमि में अनादि काल से पड़े हुए है। अवद्यिा, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष पाँच क्लेश है ये बंधन रूपी पीड़ा को उत्पन्न करते हैं तथा चित्त में वर्तमान रहते हुए संस्कार रूप गुणों के परिणाम को दृढ़ करते हैं। इन सबका कारण अविद्या है इसलिये ये मिथ्याज्ञान ही है। जिस प्रकार भूमि में रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार अविद्या के क्षेत्र में रहकर सभी क्लेश बन्धन रूपी फल देते हैं ये क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं।

1. **प्रसुप्त** - जो क्लेश चित्त भूमि मे अवस्थित है पर अभी जागे नहीं है क्योकि अपने विषय आदि के अभाव काल में अपने कार्यो को आरम्भ नही कर सकते वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जिस प्रकार बाल्य काल में विषय भोग की वासनाये बीज रूप में दबी रहती हैं। जवान होने पर जाग्रत होकर अपना फल दिखलाती हैं।

2. **तनु** - वे क्लेश हैं जो प्रतिपक्ष भावना द्वारा अथवा क्रियायोग से शिथिल कर दिये गये हैं। इस कारण वे विषय के होते हुए भी अपने कार्य के आरम्भ करने मे असमर्थ होते हैं। शान्त होते हैं।

3. **विच्छिन्न** - विच्छिन्न क्लेशों की वह अवस्था है जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान क्लेश से दबे होते हैं और उनके अभाव में वर्तमान हो जाते हैं। जैसे द्वेष अवस्था में राग छिपा रहता है और राग अवस्था में द्वेष।

4. **उदार** - उदार क्लेशों की वह अवस्था है जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

इस प्रकार अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश प्रत्येक अवस्था भेद की दृष्टि से चार प्रकार से अविद्यारूपी भूमि में रहते हैं। जहाँ यह अविद्या शिथिल पड जाती है वहॉ अस्मिता आदि क्लेश की उत्पत्ति नही देखी जाती है। सभी क्लेश चित्त को विक्षिप्त करने वाले हैं. अतः इनके स्वरूप को भली प्रकार जानकर इनके उच्छेद का यत्न करना चाहिये।

अविद्या - जिसमें जो धर्म नही है उसमें, उसका भान होना अविद्या का सामान्य लक्षण है। पशु के तुल्य अविद्या के चार पैर हैं।

1. **अनित्य में नित्य का ज्ञान** - यह सारा संसार और उसकी सम्पत्ति अनित्य है क्योंकि यह उत्पत्ति वाला और विनाशी है। इसको नित्य समझना अविद्या है।

2. **अपवित्रता में पवित्रता का ज्ञान** - अन्याय, चोरी, हिंसा, घूस आदि से कमाया हुआ धन अपवित्र है इसको पवित्र मानना अविद्या है इसी प्रकार अधर्म, पाप, हिंसा, आदि से रंगा हुआ अंतःकरण अपवित्र है उसको पवित्र समझना।

3. **दुःख में सुख का ज्ञान** - संसार के सभी विषय दुःख रूप हैं। अर्थात हमारे उन सभी कर्मो का फल जिनके पीछे सकाम भावना होती है दुःख रूप है, उन्हें सुख रूप समझना अविद्या है।

4. **अनात्म (जड़) में आत्म ज्ञान** - शरीर इन्द्रिय और चित्त ये सभी जड है इनको ही आत्मा समझना अविद्या है।

अविद्या के कारण सबसे पहले चित्त में आत्मा भाव का आरोप हो जाता है।

इस प्रकार चित्त को ही आत्मा समझ लेने पर अस्मिता नामक क्लेश उत्पन्न होता है

2. **अस्मिता** - पुरुष और चित्त में अविद्या के कारण एक जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है इसी को हृदय ग्रंथि भी कहते हैं। इसी अध्यारोप से आत्मा मे बन्धन का आरोप होता है। इस अस्मिता क्लेश के कारण मन, इन्द्रियों और शरीर मे आत्मभाव अर्थात ममत्व और अहमत्व पैदा हो जाता है और उनके सुख पहुँचाने वाले विषयों और वस्तुओं में राग उत्पन्न हो जाता है।

3. **राग** - शरीर इन्द्रियों और मन को आत्मा समझ लेने पर इन्हें सुख पहुँचाने की इच्छा जो चित्त में सदैव बनी रहती है, राग कहलाती है। इसी के कारण तृष्णा और लोभ के संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं। यह राग ही द्वेष का कारण है क्योंकि चित्त मे राग के संस्कार जम जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर, इन्द्रियों और मन को दु ख प्रतीत होता है अथवा जो सुख के साधनों में विघ्न पड़े उनसे द्वेष होने लगता है।

4. **द्वेष** - दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की भावना चित्त में बनी रहती है उसको द्वेष कहते हैं। जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनो से दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा और क्रोध के संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं द्वेष क्लेश कहलाते हैं। द्वेप, क्लेश ही अर्थात शरीर इन्द्रियाँ आदि को दुःखों से बचाने के संस्कार ही अभिनिवेश के कारण हैं।

5. **अभिनिवेश** - मरने का भय हर एक प्राणी में स्वभावतः बह रहा है वह अभिनिवेश क्लेश है। राग द्वेप के कारण शरीर में आत्मा का अध्यास हो जाता है और मूर्ख से लेकर विद्वान तक अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को भूलकर भौतिक शरीर की रक्षा में लगे रहते हैं और उसके नाश से घबराते हैं। इस मृत्यु के भय के सस्कार चित्त में पड़ जाते हैं ये संस्कार ही सकाम कर्मो का कारण हैं। इस प्रकार ये पॉचो क्लेश चित्त में स्थूल भाव से रहते हुए निरंतर दुःख और पीड़ा के कारण है। भूतकाल का दुःख भोग देकर व्यतीत हो गया, इसलिये त्यागने योग्य नही है वर्तमान दु ख इस क्षण में भोगा जा रहा है, दूसरे क्षण में स्वयं समाप्त हो जायेगा, इस कारण त्याज्य नही है। इसलिये आने वाला दुःख ही त्यागने योग्य है।

दुःख के कारण, इन पाँचों क्लेशों को क्रियायोग के तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान आदि साधनों से सूक्ष्म किया जाता है। इन क्लेशों के सूक्ष्म हो जाने पर अतःकरण शान्त हो जाता है और चित्त एकाग्र हो जाता है। इससे क्लेशों की पीडादायक अनुभूतियां दूर हो जाती हैं तथा जीवन आनन्दमय हो जाता है।

अष्टाङ्ग योग - योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से क्लेशरूपी अशुद्धि दूर होती है और सम्यक ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है इन अंगों का अनुष्ठान जितना बढता

जाता है उतनी ही क्लेश की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है। यहाँ तक कि ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि विवेक ख्यातिपर्यन्त तक पहुँच जाती है। योग के आठो अंग निम्न प्रकार से है।

(1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान (8) समाधि।

योग के इन आठो अंगों में से पहले पाँच साधन वहिरंग साधन कहलाते हे और अंतिम तीन अंतरंग साधन कहलाते हैं। इन आठों अंगों का श्रद्धापूर्वक निरतर अभ्यास करने से दुःखो की निवृत्ति होती है। क्योंकि पुरुष क्रमशः क्लेशों और सकाम कर्मो द्वारा अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष, और राग द्वेष से अभिनिवेश, अभिनिवेश से सकाम कर्म सकाम कर्म की वासनाओं से जन्म आयु और भोग तथा उनमें सकाम कर्मो के पाप पुण्य के अनुसार दुःख सुख पाता है।

(1) **यम** - बर्हिमुखता की सबसे अंतिम अवस्था मनुष्य का अन्य सव प्राणियो के साथ व्यवहार है। इसलिये सबसे प्रथम इस व्यावहारिक जीवन को यमो द्वारा सात्विक और दिव्य वनाना होता है। इससे बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले राग द्वेप और अभिनिवेश क्लेश तनु हो जाते हैं।

(2) **नियम** - नियमों का सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर इन्द्रियों तथा अतःकरण के साथ होता है, इसलिये इनके यथार्थ पालन से अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने वाला सारा वाह्य व्यावहारिक जीवन सात्विक पवित्र और दिव्य बन जाता है।

(3) **आसन** - आसन का सम्वन्ध शारीरिक क्रिया से है। इसके द्वारा शरीर की चंचलता, अस्थिरता, आलस्य और प्रमाद हट जाते हैं और शरीर में सात्विक प्रकाश और दिव्यता उत्पन्न होती है।

(4) **प्राणायाम** - प्राणायाम द्वारा प्राण की गति रोककर अथवा धीमा करके शरीर की आंतरिक गति को दिव्य बनाया जाता है।

(5) **प्रत्याहार** - प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को प्रमाद रूप तमस् और वहिर्मुखता रूप रजस् से शून्य करके इनको सात्विक रूप में चित्त के साथ अंतर्मुख करके दिव्य बनाना होता है।

(6) **धारणा** - धारणा द्वारा चित्त को वृत्तिमात्र से किसी एक विषय मे ठहराकर दिव्य बनाया जाता है।

(7) **ध्यान** - जिस विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से ठहराया जाता है, उस वृत्ति

को अस्थिर करने वाले रजस् और प्रमाद उत्पन्न करने वाले तमस् को हटाकर चित्त को उस सात्विक (दिव्य) रूप से लगातार उस एक वृत्ति में ही ठहराना होता है।

(8) **समाधि** - जिस विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से ध्यान में अविच्छिन्नता के साथ लगाया है, उस ध्येयाकार वृत्ति को जो रजस् ध्यान और ध्यातृ रूप आकार मे ले जा रहा है और तमस जो उस ध्यान और ध्यातृ रूप आकार को रोके हुए है, उस लेशमात्र रजस् और तमस् को हटाकर समाधि में चित्त का उस सात्विक रूप में ध्यातृ से शून्य होकर केवल ध्येयाकार रूप में भासना होता है।

❑❑

यम-नियम

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह यम हैं। वास्तव में ये मनुष्य द्वारा दूसरे प्राणियों के प्रति किये जाने वाले सद्व्यवहार हैं। इनके पालन से मनुष्य उत्तम गुणों को प्राप्त करता है। यमों का पालन किसी जाति विशेष, देश विदेश, काल विशेष या अवस्था विशेष के लिये नही है। यह भूमण्डल पर रहने वाली सारी जाति, देश, काल और अवस्था के लिये पालन योग्य है इसलिये ये सार्वभौम महाव्रत कहे जाते हैं।

जाति देश काल और अवस्था विशेष की हद से रहित होने का यह अभिप्राय है कि इनके द्वारा अहिंसा आदि यम संकुचित न किये जाँय - जैसे

जाति द्वारा संकुचित - गाय आदि पशु की हिंसा न करूंगा।

देश द्वारा संकुचित - तीर्थ स्थानों मंदिरों देव स्थानों आदि में हिंसा नही करूंगा।

काल द्वारा संकुचित - चतुर्दशी एकादशी आदि तिथियों में हिंसा नही करूंगा।

अवस्था विशेष द्वारा संकुचित - जैसे देव आदि के प्रयोजन की सिद्धि के लिये हिंसा करूंगा अन्य के लिये नहीं। इसी प्रकार अन्य यमों को समझना चाहिये जैसे समयावच्छिन्न सत्य - प्राण हरण आदि के संकट के अतिरिक्त मिथ्या भाषण नहीं करूंगा। समयावच्छिन्न अस्तेय - दुर्भिक्ष के अतिरिक्त चोरी न करूंगा।

समयावच्छिन्न अपरिग्रह - परिवार के पालन के लिये ही परिग्रह ग्रहण करूँगा।

जब ये यम इस प्रकार की संकीर्णता से रहित सब जातियों के लिये सर्वत्र सर्वदा सर्वथा पालन किये जाते हैं तब महाव्रत कहलाते हैं। यमों का सम्बन्ध केवल

व्यक्तियो से नहीं है परन्तु सारे मनुष्य समाज से है इसलिये सारे मनुष्य इनके पालन करने में समष्टि रूप से परतंत्र है। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति देश काल अवस्था वर्णाश्रम मत मतान्तर का क्यों नहो यदि उसे मनुष्य समाज में रहना है तो उसके लिये ये यम सर्वदा माननीय और पालनीय हैं। संसार में फैली हुई भयंकर अशान्ति के नाश का केवल मात्र उपाय यमो का यथार्थ रूप से पालन करना है। यम के अर्थ ही शासन और व्यवस्था करने वाले के हैं इनके पालन से संसार की अवस्था ठीक रह सकती है।

अहिंसा - जिस प्रकार सारे क्लेशों का मूल अविद्या है उसी प्रकार सारे यमो का मूल अहिंसा है। शरीर वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहॅुचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है, इससे बचना अहिंसा है। हिंसा को तीन वर्गो में बाँटा जा सकता है। (1) शारीरिक - किसी प्राणी का प्राणहरण करना अथवा अन्य प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुँचाना (2) मानसिक - मन को क्लेश देना (3) आध्यात्मिक अतःकरण को मलिन करना। किसी **प्राणी** की किसी प्रकार की हिंसा करने के साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है। अर्थात अपने अंतःकरण को हिसा के क्लिष्ट संस्कारों के मल से दूषित करता है। इन तीनों प्रकार की हिंसाओं में सबसे बडी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है। इसी कारण से हिंसक अधिक दया का पात्र है, उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेने की भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिस पर हिसा की जाती है उसके तथा हिंसक दोनों के कल्याणार्थ हिंसा पाप को हटाना चाहिये।

अहिंसानिष्ठ व्यक्ति के निरंतर ऐसी भावना और यत्न करने से कि उसके निकट किसी प्रकार की हिंसा न होने पावे, उसके अंतःकरण से अहिंसा की सात्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेग से बहने लगती है कि उसके निकट हिंसक अंतःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक वृत्ति को त्याग देते हैं। योगी मे अहिंसा व्रत की सिद्धि से आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी संनिधि से ही हिंसक हिसा की भावना त्याग देता है। मानसिक शक्ति वाले मानसिक बल से हिंसा हटा दे, वाचिक तथा शारीरिक शक्ति वाले जहाँ तक उनका अधिकार है उस सीमा तक इन शक्तियों को हिंसा के रोकने मे प्रयोग करें। यही अहिंसा धर्म है।

अपनी दुर्बलता के कारण भयभीत होकर अत्याचारियों के अत्याचार सहन करना अपनी धन सम्पत्ति को चोर डाकुओं से हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार देश समाज अथवा धर्म को दुर्जनों द्वारा अपमानित देखना अहिंसा नही है

बल्कि हिसा का पोषक कायरता रूपी महापाप है तेजस्वी वीर ही अहिसा व्रत का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है, दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकों की हिसा बढाने में भागी होता है।

उदाहरणार्थ आतंकवादी, संगठन और मृत्यु से निर्भयता- इन दो शक्तियों को लेकर निकलता है। जो पुरुप मृत्यु के भय से अपना धन और सम्पत्ति विना मुकाबला किये हुए आसानी से दे देते हैं, वे उनके दूसरे स्थानों में हिंसा करने और लूटने के उत्साह और हिम्मत को बढ़ाकर उनके इस प्रकार की हिंसा में पाप के भागी बनते है। जो वीर पुरुष उनसे अधिक मृत्यु से अभय रूप आत्म बल और संगठन रूप दिव्य शक्ति रखते हैं और संगठित होकर निर्भयता के साथ उनका मुकाबला करते हैं, वे अपने प्राणों को खोकर भी उन अत्याचारियों के दूसरे स्थान में हिंसा करने के उत्साह और हिम्मत को कम करते हैं, वे उनकी हिंसा को घटाकर अहिंसा रूपी पुण्य के भागी बनते हें। यदि वे इस संग्राम में सफल होते हैं तो अपने धन और सम्पत्ति के ऐश्वर्य को भोगते हैं और यदि बलिदान होते है तो स्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

सर्वसाधारण के लिये अहिंसारूप व्रत के पालन करने में सबसे सरल कसोटी यह है ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'' या "Do to others as you want others do to you." दूसरों के साथ व्यवहार करने में पहले यह भली प्रकार जॉच लें कि यदि आप उनके स्थान पर होते तो और वे आपके स्थान पर तो आप उनसे किस प्रकार का व्यवहार कराना चाहते। वस वैसा ही आप उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमों में भी लग सकता है।

हिंसा के सम्वन्ध में इस वात का ध्यान रखना चाहिये कि किसका जीवन मनुष्य समाज के लिये कितना उपयोगी अथवा हानिकारक है। क्योंकि मनुष्य जीवन मे ही आत्मोन्नति की जा सकती है। अर्थात खटमल जूँ मच्छर पिस्सू आदि हिंसक जन्तुओं की अपेक्षा साधारण कीट पतंग आदि की हिंसा अधिक बड़ी है। उनकी अपेक्षा साधारण जानवरों की। साधारण जानवरों की अपेक्षा उपयोगी पशुओं की। उपयोगी पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों की साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उच्च्य कोटि के मनुष्यों की जिनका जीवन पवित्र और उत्कृष्ट है, जिनसे देश समाज और प्राणिमात्र को अत्यंत लाभ पहुँच रहा हो।

सत्य - यह अहिंसा का ही रूपान्तर है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उसको शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है विचार में लाना मन का सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थ रूप से करना चाहिये वही सत्य है अर्थात कर्तव्य ही सत्य है। अहिंसा तीनो काल में सत्य है।

करना चाहिये वही सत्य हे अर्थात कर्तव्य ही सत्य है अहिसा तीनो काल मे सत्य है इस कारण यथार्थ रूप से यथार्थ ज्ञान स अहिसा के लिये जो कुछ किया जाय वह सत्य है। यदि कोई पुरुष द्वेष से दिल दुखाने के लिये अंधे को तिरस्कार के साथ अधा कहता है तो वह असत्य है क्योंकि यह हिंसा है और हिंसा सदा असत्य है।

जैसा अनुमान किया हो और जैसा सुना हो वैसा ही कथन करना और मन मे धारण करना सत्य है। दूसरे पुरुष में अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने में कही हुई वाणी यदि धोखा देने वाली भ्रान्ति कराने वाली अथवा ज्ञान कराने में असमर्थ न हो और सब प्राणियों के उपकार के लिये प्रवृत्ति हुई हो और जिससे किसी प्राणी का नाश पीड़ा अथवा हानि न हो वह सत्य है। अच्छी प्रकार परीक्षा करके सब प्राणियों के हितार्थ सत्य बोलना चाहिये जैसा कि कहा भी गया है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्

सत्य बोले प्रिय बोले, वह सत्य न बोलें जो अप्रिय हो। अर्थात सत्य को मीठा करके बोले, कटु करके न बोलें।

सत्य का वास्तविक स्वरूप मनुष्य कर्तव्य है। इसलिये जो मनुष्य प्रत्येक प्राणी के प्रति प्रत्येक अवस्था और काल में अपना कर्तव्य यथार्थ रूप से समझता है। ओर उसका यथार्थ रूप से पालन करता है वही सत्यव्रती है। राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु का शोक और अपनी स्त्री को घोर विपदा में अपने समक्ष खडी हुई देखकर भी उसका मोह छोड़कर अपने स्वामी चाण्डाल के प्रति कर्तव्य को समझा और उसका पालन किया यह उनके सत्य की अंतिम परीक्षा थी जिसने उनका नाम सदा के लिये अमर कर दिया यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य रूपी सत्य व्रत को पालन करने लगे तो संसार की अशान्ति स्वतः ही दूर हो सकती है।

सत्य का वक्ता साधु है, सत्य से उत्तम कुछ नही है। व्यावहारिक सत्य तत्त्व से ही दुर्विज्ञेय है। जहाँ झूठ सत्य हो जाय, वहाँ सत्य अकर्तव्य हो जाता है और अनृत कर्तव्य हो जाता है। सर्वस्व हरण उपस्थित हो जाने पर झूठ बोलना ही योग्य होता हे वहाँ पर झूठ सत्य और सत्य झूठ हो जाता है। जो सत्य का अनुष्ठान करना चाहता है, ऐसे व्यक्ति को सत्य का यही तत्त्व समझना चाहिये। यदि कहीं पर सत्य बात का न कहना ही ठीक हो तो वहाँ पर किये हुए सत्य को नही ही कहना चाहिये। इस प्रकार झूठ और सत्य के तत्त्व को निश्चय करके मनुष्य धर्मवित् होता है।

जो न्यायानुकूल आचरण को ही धर्म का लक्षण मानते हैं, उनका मत है कि यदि कहीं न बोलने से (चुप रहने से) ही छुटकारा होता हो तो वहाँ कभी न बोले। यदि बोलना ही आवश्यक हो जाय या न बोलने से शक पैदा होता हो तो वहाँ झूट बोलने

मे ही श्रेय है वह बिना विचारे सत्य ही कहलाता है प्राणो का सकट आन पर विवाह काल में, सर्व ज्ञाति का अत्यंत वध उपस्थित होने पर हँसी मजाक के समय कहा हुआ झूठ झूठ नही माना जाता। यदि चोरों के साथ पाला पड़ने पर (झूठी शपथें ले लेकर भी अपने को उनके हाथ से छुड़ा लें तो धर्म के तत्व को जानने वाले इसको अधर्म नहीं कहते)। चोर आदि से सम्बन्ध पड़ने पर झूठ बोलना अच्छा है, वह बिना विचारे सत्य ही है। सामर्थ्य होते उनको किसी प्रकार भी धन नही देना चाहिये। पापियों को दिया हुआ धन दाता को भी दुःख देता है। इस प्रकार धर्म के लिये मनुष्य झूठ बोलकर भी मनुष्य झूठा नही होता।

शास्त्र के अनुसार निरपराधी जीवों की हिंसा को रोकना सबसे बड़ा सत्य है। कल्पना करो कि कुछ लोग डाकुओं से पीछा किये जाने पर आपके समक्ष किसी गुप्त स्थान में छिप जाय और उनके पश्चात डाकू आकर आपसे पूछें कि वे आदमी कहाँ गये है? इस अवसर पर आपका क्या कर्तव्य होगा? ऐसी अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का अपने-अपने सामर्थ्यानुसार हिंसको की हिंसा हटाना और निरपराधी की सहायता करना परम कर्तव्य होगा अर्थात अहिंसा प्रतिष्ठित योगी अपने आत्मबल से हिंसको की हिंसा वृत्ति का दमन करें! क्योंकि जो अहिंसा से युक्त है वही धर्म है। धर्म का प्रवचन तो हिंसको की अहिंसा के लिये भी कहा गया है।

यहाँ इस बात को भली प्रकार समझना चाहिये कि अहिंसा अपने वास्तविक स्वरूप में तीनो काल में सत्य है। अतः अहिंसा के लिये नियमित सीमा तक जो कुछ भी किया जाय और कहा जाय वह करना और कहना सत्य रूप ही है, क्योंकि जिस समय जिसके लिये जैसा करना चाहिये या कहना चाहिये वही कर्तव्य ही सत्य है। किंतु इसको सांसारिक लाभ तथा संकट और आपत्ति के अवसर पर असत्य भाषण मे समर्थक समझने की भूल कदापि नही होनी चाहिये क्योंकि ऐसे ही अवसरों पर सत्य की परीक्षा होती है।

सत्य के सम्बन्ध देश, काल और परिस्थिति के अनुसार, कहीं तर्क का भी आश्रय लेकर निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिये। आवश्यकतानुसार बोलें, अनावश्यक बातें न करे, असत्य कटु अथवा दूसरे को जिससे दुःख पहुँचे ऐसे शब्द न बोले। परस्पर द्वेष बढ़े ऐसी बाते न करें। चुगली न करें। किसी को ऐसा वचन न दें जिसको पूरा न कर सकते हों। जिसको जो वचन दिया हो उसको पूरा करना चाहिये। समय का ध्यान रखना चाहिये। दूसरों से सम्बन्धित सारे कार्य ठीक समय पर हों।

अस्तेय - अस्तेय सत्य का ही रूपान्तर है। अन्यायपूर्वक किसी के धन द्रव्य अथवा अधिकार आदि का हरण करना स्तेय है। राजा का प्रजा के नागरिक अधिकार

दबाना ऊँचे वर्ण वालों या धनपतियो का नीचे वर्ण वालो और निर्धनो के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों को छीनना स्तेय है। अधिकारियों, बाबुओं का रिश्वत लेना, दुकानदारों का निश्चित मूल्य या उचित मूल्य से ज्यादा दाम लेना अथवा तौल में कम देना तथा चीजो में मिलावट करना इत्यादि स्तेय है। इस प्रकार किसी वस्तु को प्राप्त करने का मूल कारण लोभ और राग है। इस हेतु योगी का किसी वस्तु में राग होना ही स्तेय समझना चाहिये। इसका त्यागना अस्तेय है।

केवल छिपकर किसी की वस्तु अथवा धन का हरण करना ही स्तेय नही है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। भूख से तंग आकर उदर पूर्ति के लिये चोरी करने वाला निर्धन स्तेय पाप का इतना अधिक अपराधी नही है जितने कि निम्नलिखित श्रेणी वाले सम्पत्तिशील –

1. संकीर्ण हृदय सवर्ण, ऊँची जाति कहलाने वाले, समृद्धशाली, अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले, जो नीची जाति कहलाने वाले निर्धनों के धार्मिक सामाजिक, नागरिक अधिकारों का हरण करते हैं। धार्मिक अधिकारों का हरण करना सबसे बड़ा स्तेय और महापाप है क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति और आत्मोन्नति करना मनुष्य मात्र का न केवल जन्म सिद्ध अधिकार ही है, प्रत्युत मनुष्य देह का यही एक मुख्य उद्देश्य है।

2. अत्याचारी राजा, जो प्रजा के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार हरण करता है।

3. लोभी जमींदार जो गरीब किसानो से अत्याचार द्वारा धन प्राप्त करते हैं।

4. फैक्ट्रियों के लोभी मालिक जो, मजदूरों को पेट भर अन्न न देकर सब लाभ अपने पास रखते हैं।

5. लोभी साहूकार, जो दूना सूद लेते हैं और गरीबों की जायदाद को अपने अधिकार में लाने की चिन्ता में रहते हैं।

6. धोखेबाज व्यापारी जो वस्तुओ में मिलावट करके धोखा देकर अधिक लाभ कमाना चाहते हैं।

7. रिश्वतखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारीगण जो वेतन पाते हुए भी कर्तव्य पालन में प्रमाद करते और रिश्वत लेते हैं।

8. लोभी वकील जो केवल फीस के लोभ से झूठे मुकदमें लड़वाते हैं।

9. लोभी वैद्य जो रोगी का ध्यान न रखकर केवल फीस का लोभ रखते हैं।

10. वे सारे मनुष्य जो अन्यायपूर्वक किसी भी अनुचित रीति से धन वस्तु

अथवा किसी भी अन्य लाभ को प्राप्त करना चाहते हैं।

अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सब रत्नों की प्राप्ति होती है। जिसने राग को पूर्णतया त्याग दिया है वह सब प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी होता है उसको किसी चीज की कमी नही रहती।

ब्रह्मचर्य - शारीरिक मानसिक, सामाजिक आदि सारी शक्तियां ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। एक स्वस्थ शरीर के सदृश ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ सारा मनुष्य समाज दुःख और शान्ति की प्राप्न करता है। 25 वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचारी रहने के पश्चात गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके शास्त्रानुसार केवल संतानोत्पत्ति के लिये ऋतु सम्य पर स्त्री संयोग करने से ब्रह्मचर्य व्रत नही टूटता है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत नहीं टूटता।

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है महादोषों का स्थान है। आत्म शोधक मनुष्य के लिये शरीर का श्रृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन सब ताल पट्ट विप के समान महान भयंकर है। स्त्रियों के रूप लावण्य विलास हास्य मधुर वचन सकेत, चेष्टा, हावभाव, और कटाक्ष आदि मन में तनिक भी विचार में नही लाना चाहिये। और इन्हे देखने का कभी प्रयत्न भी नहीं करना चाहिये। स्त्रियों को रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कथन करना आदि ब्रह्मचारी पुरुप को कदापि नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत में सदा रत रहने की इच्छा रखने वाले पुरुपों के लिये यह नियम अत्यंत हितकारक है और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है। आत्मशोधक पुरुप को स्त्रियों का कूजन, रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण कंदन जिनके सुनने पर विकार पैदा होता है सुनना छोड़ देना चाहिये तथा स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य क्रीडा रति दर्प सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी स्मरण न करें। ब्रह्मचर्य व्रत धारी को शीघ्र ही वासना वर्धक पुष्टिकारक भोजन पान का सदा के लिये परित्याग कर देना चाहिये। काम वासना को भोगकर कभी नही जीता जा सकता। जो साधक इस सम्बन्ध में वीत राग हो जाता है वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। संसार के समस्त शारीरिक तथा मानसिक दुःखों का मूल एकमात्र काम वासना है।

ब्रह्मचर्य की स्थिति दृढ़ होने पर वीर्य लाभ होता है। वीर्य ही सब शक्तियों का मूल कारण है। उसके पूर्णतया रोकने से शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तिया बढ जाती हैं। तथा योगमार्ग में विना रुकावट पूरी उन्नति हो सकती है। वह विनय करने वाले जिज्ञासुओं को ज्ञान प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और शास्त्रोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्व काल में कितने ही जीव

सिद्ध हो गये हैं वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे।

ब्रह्मचर्य की महिमा महान है। सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों में जो जीवन कला दिखलायी देती है, वह सब ब्रह्मचर्य का ही प्रताप है। जीवन कला में सौंदर्य, तेज आनन्द उत्साह, सामर्थ्य, आकर्षकत्व और सजीवत्व आदि अनेकानेक उत्तम गुणों का समावेश ब्रह्मचर्य से ही होता है। ब्रह्मचारी पुरुष के लिये संसार में कोई बात असम्भव और अप्राप्त नही है।

योगियों के लिये ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप - अन्न के खींचने के लिये जो प्राणों की आभ्यांतर क्रिया होती है, उसी का नाम भूख है, वह वृक्षों पशु-पक्षी आदि और मनुष्यों में समान है। वृक्ष प्राणों के अनुकूल ही अन्न को खींचते हैं यही कारण है कि विशेष-विशेष वृक्ष उन विशेष स्थानो में जहाँ उनके अनुकूल पृथ्वी जलादि में परमाणु नहीं होते नहीं उगते है। पशु आदि भी प्राणों के अनुकूल ही अन्न को खींचते हैं, यदि मनुष्य के कुसग से इस स्वाभाविक बुद्धि को न खो बैठे हों। मनुष्य नाना प्रकार की वासनाओं से भ्रमित होकर इस विवेक बुद्धि को खो देता है कि किस समय प्राणों को किस-किस विशेष अन्न की आवश्यकता है। कभी-कभी प्राणों मे भी कई विशेष कारणों के अधीन होकर बाहर अन्न की ओर आकर्षित होने की आभ्यंतर क्रिया होती है। यही काम विषय वासना के पीछे जाना है। इसके वशीभूत हो जाने से ब्रह्मचर्य का खण्डन होता है। इसलिये योगी के लिये ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप प्राणो पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेना है और प्राण आदि पञ्च वायु अत:करण का सम्मिलित कार्य है। अतः अंतःकरण पर पूरा अधिकार कर लेना आवश्यक है। यह अधिकार ब्रह्मनिष्ठा से प्राप्त होता है अर्थात उस क्रम से ब्रह्मनिष्ठ होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह - धन सम्पत्ति, भोग सामग्री अथवा अन्य वस्तुओं को अपनी आवश्यकताओं से अधिक केवल अपने ही भोग के लिये स्वार्थ दृष्टि से संचय या इकट्ठा करना परिग्रह है। आवश्यक वह वस्तु है जिसके बिना अभ्यास अथवा धार्मिक कार्य निर्विघ्नतापूर्वक न चल सके अर्थात जो अध्यात्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्यों में साधन रूप से आवश्यक हो, किन्तु ऐसी वस्तुओं का संग्रह भी बिना किसी प्रकार की आसक्ति या लगाव के होना चाहिये अन्यथा वह भी परिग्रह समझा जायेगा। इससे बचना अपरिग्रह है। परन्तु योगी के लिये तो सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या आदि क्लेश शरीर और चित्त आदि में ममत्व और अहंकार है, जो सब परिग्रह के मूल कारण है। इसके लिये इन सब क्लेशों आदि का न रखना ही अपरिग्रह का लक्षण है।

इस व्रत का यथार्थ रूप से पालन न होने के कारण ही धन सम्पत्ति आदि का ठीक-ठीक विभाग नही है। किसी के पास सैकड़ों मकान हैं तो किसी के पास रात मे सोने के लिये एक छोटी सी झोपड़ी भी नही है किसी के पास खत्तियों अनाज भरा हुआ है तो कोई भूखा मर रहा है।

थोड़े से व्यक्तियों का अपनी आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्तियों का सग्रह कर उसको अपने तथा दूसरों के निमित्त यमों का पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक रूप से व्यय करने में भी समाज की इतनी हानि नही है जितनी कि कंजूसी से सग्रह करने और उसको बिना काम में लाये बंद रखने से होती है, क्योंकि धन सम्पत्ति आदि सामग्री जब व्यय अर्थात काम में लायी जाती है, तब उसका अंश किसी न किसी रूप से सारे समाज में बंट जाता है। यदि हर एक मनुष्य के पास केवल उसी की आवश्यकताओं के अनुसार ही सारी वस्तुएं रहें तो कोई मनुष्य निर्धन भूखा और बेघर न रहेगा।

नियम

नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक सम्बन्ध से है। शौच, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम है।

शौच के दो प्रकार है - बाह्य और आभ्यान्तर

बाह्य - मृत्तिका, जल आदि से पात्र, वस्त्र स्थान आदि को पवित्र रखना तथा मृत्तिका, जल आदि से शरीर के अंगो को शुद्ध रखना शुद्ध सात्विक नियमित आहार से शरीर को सात्विक नीरोग और स्वस्थ रखना

आभ्यान्तर - ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलों को दूर करना बुरे विचारों को शुद्ध विचारो से हटाना, दुर्व्यवहार को शुद्ध व्यवहार से हटाना मानिसक शोच है। अविद्या आदि क्लेशों के मलों को दूर करना चित्त का शौच है।

संतोष - सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्नों के पश्चात जो फल मिले अथवा जिस अवस्था में रहना हो उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकार की तृष्णा छोड़ देना सतोष है। सत्व के प्रकाश में चित्त की प्रसन्नता का नाम संतोष है न कि तम के अधकार में चित्त का आलस्य तथा प्रमाद रूपी आवरण। इसे तुष्टि कहते हैं।

तप - जिस प्रकार अश्व विद्या का कुशल सारथि चन्चल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर प्राण इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वश मे करने को तप कहते हैं। जिससे सर्दी गर्मी, भूख प्यास, सुख दुःख, हर्ष शोक, मान

अपमान आदि सर्व द्वन्द अवस्था में बिना विक्षेप के योगमार्ग मे प्रवृत्त रहे। शरीर म व्याधि तथा पीड़ा इन्द्रियों में विकार और चित्त में अप्रसन्नता उत्पन्न करने वाला तामसी तप योग मार्ग में निन्दित तथा वर्जित है।

स्वाध्याय - अध्यात्म सम्बन्धी विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले योग और साख्य के सत् शास्त्रों का अध्ययन। ओंकार सहित गायत्री मंत्र या अपने धर्म के अनुसार मंत्रों का जप स्वाध्याय है। साथ ही आत्मावलोकन कि सत् शास्त्रों द्वारा वताये गये आचारणों के अनुसार हमारा आचरण हो रहा है कि नही।

ईश्वर प्राणिधान - ईश्वर की भक्ति विशेष अर्थात फल सहित सर्व कर्मों को उसके समर्पण करना ईश्वर प्राणिधान है। फलेच्छा से यां निष्कामता से जो शुभाशुभ कर्म का अनुष्ठान किया जाय व सब परमेश्वर के समर्पण करना चाहिये। जैसा कि गीता में कहा गया है, जो तुम कार्य करो भक्षण करो यज्ञ करो अथवा दान करो और जो तप करो वह सब मेरे ही अर्पण करो। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि जिस योगी ने अपने समस्त कार्य ईश्वर के समर्पण कर दिये है, उनका कोई काम अशुभ न होगा। सब शुभ ही होगे तथा फलों को ईश्वर समर्पण कर देने के कारण उसके कर्म फलेच्छा त्यागपूर्वक ही होगे। कर्मो और उनके फलो को ईश्वर समर्पण कर देने के अर्थ कर्महीन वन जाना नही है। आगे कहा है कर्मो के अनुष्ठान में ही तुम्हारा अधिकार है, कर्मों के फल में कदापि नहीं अतः फल के अर्थ कर्मों का अनुष्ठान मत करो और कर्महीनता में भी तेरी आसक्ति न होनी चाहिये अर्थात ईश्वर समर्पण करके सदा निष्काम भाव से अपने कर्तव्य रूप शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

'तप'

जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातु का मल भस्म हो जाने पर उसमें स्वच्छता ओर चमक आ जाती है, इसी प्रकार तप की अग्नि में शरीर इन्द्रियों आदि का तमोगुणी आवरण के नाश हो जाने पर उनका सत्व रूपी प्रकाश बढ़ जाता है। योगमार्ग में आसन प्राणायाम और सात्विक आहार विहार आदि शरीर के तप माने गये हैं तथा प्रत्याहार और शम दम आदि इन्द्रियों तथा मन के तप माने गये हैं।

यह योग न तो बहुत बहुत अधिक खाने वाले को और न कोरे उपवासी को, वैसे ही न वहुत सोने वाले को और न वहुत जागने वाले को प्राप्त होता है। जो मनुष्य आहार विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने जागने में नियमित रहता है उसका योग दु खनाशक होता है।

युक्ताहार - स्निग्ध, मीठा, प्रिय आहार क्षुधा परिमाण से न्यून ईश्वर की सम्यक प्रीति के लिये जो किया जाता है वह मिताहार कहा जाता है। तामसी, राजसी

तथा हिंसा से प्राप्त किये हुए तथा गरिष्ठ, वात कफ कारक अति उष्ण, खट्टे, चटपटे, बासी अतिरुक्ष, सूखे हुए, सड़े हुए, जूठे, नशा करने वाले, उत्तेजक, स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले पदार्थों को त्यागकर केवल शुद्ध सात्विक हल्के मधुर रसदार स्निग्ध ताजा स्वास्थ्यवर्धक चित्त को प्रसन्न करने वाले पदार्थ जैसे दूध घृत ताजे रसदार मीठे फल सात्विक सब्जी, सात्विक अनाज आदि का नियमित रूप से भूख से न्यून मात्रा में सेवन करना युक्ताहार है।

अभ्यासियों को अन्न के सम्बन्ध में पूरी सावधानी रखनी चाहिये क्योंकि अन्न का शरीर और मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अन्न सात्विक तथा पवित्र कमाई का होना चाहिये तथा इसका सेवन भी स्वाद के वशीभूत होकर, शरीर में आसक्ति और ममता के साथ नही होना चाहिये। केवल शरीर निर्वाह के उद्देश्य मे होना चाहिये।

युक्त विहार - एसी लम्बी कठिन यात्रा या श्रम का न करना जिससे कि शरीर इतना थक जाय कि आगे कार्य करने की सामर्थ्य शेष न रहे। चलना फिरना बिल्कुल बन्द न कर दिया जाय कि तमोगुण रूपी आलस्य तथा प्रमाद से ग्रस्त हो जाय। बल्कि इतना चलता फिरता घूमता रहे जिससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न रहे।

युक्त कर्म चेष्टा - नियमित रूप से कर्तव्य तथा नियत सत्कर्मों को नित्य करते रहना अर्थात इतना अधिक शारीरिक परिश्रम न करना जिससे थकान उत्पन्न होकर आगे के कार्यों में बाधा पड़े और न सर्वथा कर्तव्यहीन होकर आलसी बन जाना। सच्ची जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना। बिना जीविका के जीवन धारण करना असम्भव है। मानव मात्र को शरीर रक्षण के लिये कोई न कोई जीविका अपनानी पड़ती है परन्तु यह जीविका सच्ची होनी चाहिये जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का क्लेश पहुँचे और न उनकी हिंसा का अवसर आये। समाज व्यक्तियों के समुदाय से बना है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन में लगे तो समाज का वास्तविक मंगल होगा।

युक्त स्वप्नावबोध - बहुत अधिक सोने से आलस्य घेरता है। शरीर शिथिल हो जाता है और कम सोने से कार्य के समय नीद आती है। अतः बहुत अधिक सोना या कम सोना दोनो ही हानिकारक है। रात्रि में सात घंटे से अधिक नही सोना चाहिये।

वाणी का तप - वाणी का तप वाणी को संयम मे रखना है अर्थात आवश्यकतानुसार केवल सत्य प्रिय दूसरों का सम्मान करते हुए वाणी से वचन निकालना। वाणी को संयम में रखते हुए सप्ताह में एक दिन मौन व्रत रखना प्रशस्त है।

मन का तप - मन का तप मन को संयम में रखना है अर्थात हिंसात्मक क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारों को मन से हटाते हुए अहिंसात्मक अक्लिष्ट भावनाओं को और शुद्ध विचारों को मन में धारण करना है। इस प्रकार क्लिष्ट विचारों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात सब प्रकार के विचार भविष्य के संकल्प-विकल्प और भूतकाल की स्मृति से मन को शून्य करने का अभ्यास करना चाहिये।

वितर्क बाधना एवं प्रतिपक्ष भावना

वितर्क द्वारा यमों नियमों का बाध होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये। वितर्क का अर्थ है विरोधी तर्क अर्थात यम नियम आदि के विरोधी अधर्म (1) हिंसा (2) सत्य (3) स्तेय (4) अब्रह्मचर्य (5) परिग्रह (6) अशौच (7) असंतोष (8) तप का अभाव (9) स्वाध्याय का त्याग (10) ईश्वर से विमुखता। जब किसी दुर्घटनावश ये वितर्क उत्पन्न हो और मन में इन योग विधर्मी अधर्मो के करने का विचार आये तो उनके प्रतिपक्षी अर्थात उन वितर्को के विरोधी विचारों का चितन करके उन वितर्क रूप अधर्मों को मन से हटाना चाहिये। प्रतिपक्ष विचारों के चिन्तन से अभिप्राय यह है कि, जैसे क्रोध आने पर शान्ति का चिन्तन करना हिंसा का विचार उत्पन्न होने पर दया के भाव का चिन्तन करना आदि।

यम नियमों के विरोधी हिंसा आदि वितर्क तीन प्रकार के होते हैं स्वयं किये हुए, दूसरों से कराये हुए और अनुमोदन किये हुए इनके कारण लोभ मोह ओर क्रोध होते हैं। ये मृदु मध्य और अधिमात्रा वाले होते है। ये सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलों को देने वाले हैं। यदि इनमें फँसा तो दुःख और अज्ञान का अन्त न होगा अर्थात ये सव अपरिमित दुःख और अज्ञानरूपी फलों को देने वाले हे। इसलिये जब वितर्क उपस्थित हो तो इनको प्रतिपक्षी अर्थात विरोधी विचारों से हटाना चाहिये।

चित्त के कालुष्य (मल) के कारण वितर्क भावना (वाधना) मन में उत्पन्न होती है। राग, ईर्ष्या परापकार, चिकीर्षा, असूया द्वेष और अमर्ष संज्ञक ये छः धर्म चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देते हैं। अतः ये चित्त के मल कहे जाते हैं। इन छः प्रकार के मलों के होने से चित्त में छः प्रकार का कालुष्य उत्पन्न होता है जो क्रम से राग कालुष्य ईर्ष्या कालुष्य, परापकार कालुष्य, असूया कालुष्य, द्वेष कालुष्य ओर अमर्ष कालुष्य कहलाते है।

राग कालुष्य - स्नेहपूर्वक अनुभव किये हुए सुख के अनन्तर जो यह सुख

मुझको सर्वदा प्राप्त हो वृत्ति विशेष हे वह राग कालुष्य कहलाती हे क्योकि यह राग सर्व सुख साधन विषयों की प्राप्ति न होने पर चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देता है।

ईर्ष्या कालुष्य - दूसरों की गुणादि या सम्पत्ति आदि की अधिकता देखकर जो चित्त में क्षोभ (एक प्रकार की जलन/दाह) उत्पन्न होता है वह ईर्ष्या कालुष्य कहलाता है। यह भी चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

परापकार चिकीर्षा कालुष्य - किसी के अपकार करने की इच्छा चित्त को विह्वल करके कलुषित कर देती है।

असूया कालुष्य - दूसरों के गुणों में दोष आरोप करना असूया पद का अर्थ है। किसी व्रतशील को दम्भी जानना और आचार वाले को पाखण्डी जानना अर्थात सदाचारी पर झूठे कलंक लगाना असूया कालुष्य है।

द्वेष कालुष्य - क्षमा का विरोधी कोप कालुष्य भी चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

अमर्ष कालुष्य - किसी से कठोर वचन सुनकर या अन्य किसी प्रकार से अपमानित होकर उनको सहन न करके बदला लेने की चेष्टा अमर्ष कालुष्य है।

उपर्युक्त कालुष्यों से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है। और मन मे वितर्क वाधना उपस्थित हो जाती है। इन मलों को निवृत्त करके चित्त को निम्नवत उपायों द्वारा प्रसन्न और एकाग्र बनाना चाहिये।

(1) सुखी मनुष्यों को देखकर उन पर मित्रता की भावना करने से राग तथा ईष्या कालुष्य की निवृत्ति होती है। अर्थात ऐसा समझने से कि यह सब सुख मेरे मित्र को है तो मुझे भी है, तब जैसे अपने राज्य के न होने पर भी पुत्र के राज्य लाभ को अपना जानकर उस राज्य में ईष्या तथा राग की निवृत्ति हो जाती है। वैसे ही अपने मित्र के सुख को भी अपना सुख मानकर उसमें राग निवृत्ति हो जायेगी एव जब उसके सुख को अपना ही सुख समझेगा तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चित्त मे जलन नहीं होगी और ईष्या की भी निवृत्ति हो जायेगी।

(2) दुःखी जनो पर करुणा अर्थात दया की भावना करने से घृणा अर्थात परापकार चिकीर्षा रूप अर्थात दूसरे का अपकार करने की इच्छा की भावना का अभाव होता है! दुःखी जनो को देखकर अपने मन में यह विचार करें कि इस दुखिया को बड़ा कष्ट होता होगा क्योंकि जव हमारे ऊपर कोई संकट आता है तव हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है उसके दुःख को दूर करने की चेष्टा करें। ऐसा न समझे

कि हमे सुख दुःख से कोई प्रयोजन नही है। जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्त में उत्पन्न हो जायेगी, तब अपने समान सबके सुख की चाह से घृणा और परापकार चिकिर्षा की निवृत्ति हो जायेगी।

(3) पुण्यात्मा अर्थात धर्म मार्ग में जो पुरुष प्रवृत्त है उन पुण्यशील पुरुषों के प्रति हर्ष की भावना रखने से असूया मल की निवृत्ति होती है जब इस प्रकार मुदिता भावना चित्त में उत्पन्न होगी, तव असूया रूप चित्त का मल निवृत्त हो जायेगा।

(4) पाप मार्ग में प्रवृत्त जो पापशील मनुष्य है, उनमें उपेक्षा की भावना करने से द्वेष तथा आमर्षक (बदला लेने की चेष्टा) या घृणा रूप मल की निवृत्ति होती है। अर्थात जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले अथवा किसी अन्य प्रकार से अपमान करे तो चित्त में ऐसा विचार करे कि यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहारों से कोई प्रयोजन नही मै इसके प्रति द्वेष या घृणा करके अपने को क्यो दूषित करूँ। इसको तो स्वयं अपने पापो का दुःख भोगना है। इस प्रकार उन पर उपेक्षा की भावना करें। इस उपेक्षा की भावना से द्वेष तथा अमर्ष रूप चित्त मल की निवृत्ति हो जाती है।

❑❑

शौच

शुद्ध निर्विकार नीरोग और स्वस्थ शरीर के बिना योग साधना कठिन है। इसलिये शरीर शोधन तथा शरीर के विकार और रोग निवृत्ति के चार साधन निम्नवत है।

(1) हठयोग की छः क्रियायें (2) प्राकृतिक चिकित्सा (3) सम्मोहन और संकल्प शक्ति (4) औषधियों द्वारा।

हठयोग की छः क्रियायें - धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपाल भांति इन छः कर्मो को शरीर शोधन के निमित्त करें। इन कर्मो को विशेष रूप से किसी जानने वाले से सीखना चाहिये।

1. धौति - धौति तीन प्रकार की होती है - वारिधौति ब्रह्मदातौन और वासधौति।

(अ) **वारिधौति अथवा कुञ्जर कर्म** - खाली पेट लवण मिश्रित गुनगुना पानी पीकर छाती हिलाकर वमन की तरह निकाल दिया जाता है। इसको गजकरणी भी कहते हैं क्योंकि जैसे हाथी सूँड़ से जल खींचकर फेंकता है उसी प्रकार इसमें जल को पीकर निकाला जाता है। आरम्भ में पानी का निकालना कठिन होता है। तालू के ऊपर छोटी जिह्वा को सीधे हाथ की दो उंगलियों से दबाने पर पानी निकलने लगता है।

(ब) **ब्रहमदातौन** - सूत की बनी हुई बारीक रस्सी के टुकड़े को अथवा रबड की ट्यूब को लवण मिश्रित गुनगुने पानी को खाली पेट पीने के पश्चात बिना दाँत लगाये गले से दूध के घूंट के सदृश निकला जाता है फिर छाती हिलाकर उसको निकाल सारे पानी को वमन के सदृश निकाल दिया जाता है।

(स) **वासधौति** - धौति लगभग चार अंगुल चौड़ी लगभग पंद्रह हाथ लम्बी बारीक मलमल जैसे कपड़े की होती है। खाली पेट पानी अथवा आरम्भ में दूध मे भीगी हुई धौति के एक सिरे को उंगली से हलक में ले जाकर बिना दांत लगाये शनै शनैः दूध के घूँट के सदृश निगला जाता है। आरम्भ में निगलना कठिन होता है ओर उल्टी आती है, इसलिये एक घूंट गुनगुने पानी के साथ निगली जाती है। प्रथम दिन एक साथ ही नही निगली जा सकती है। शनैः शनैः अभ्यास बढ़ाया जाता है। सव धौति निगलने के पश्चात कुछ अंश मुँह के बाहर रखना पड़ता है। इसके वाद नौलिको चालन करके धौति तथा सव पिये हुए पानी को वमन के सदृश निकाल दिया जाता है। इन क्रियाओं से कफ और पित्त रोग दूर होकर शरीर शुद्ध और हल्का हो जाता है। और मन सुगमता से एकाग्र होने लगता है।

2. **वस्ति** - वस्ति मूलाधार के समीप है। इसके साफ करने के कर्म को वस्ति कर्म कहते हैं। एक चिकनी नली को गुदा में ले जाकर नोलि कर्म की सहायता से गुदा मार्ग द्वारा वस्ति में जल चढ़ाया और निकाला जाता है। साधारणतया इस क्रिया का करना कठिन है। इसके स्थान पर एनिमा से काम लिया जा सकता है। इससे ऑतो का मल जल के साथ मिलकर पतला हो जाता है और शीघ्रतापूर्वक बाहर निकल आता है।

3. **नेति** - (अ) नेति कर्म केलिये महीन सूत के दस पन्द्रह तार से बँटी हुई एक डोरी की आवश्यकता होती है, जिसका एक सिरा नोकदार होता है। नेति को पानी मे भिगोकर उसके नोकदार सिरे को एक हाथ से नासिका द्वारा गले में ले जाकर दूसरे हाथ से पकड़ा जाता है तत्पश्चात एक दो वार अंदर वाहर चलाकर मुख से निकाल दिया जाता है। इस क्रिया से मस्तिष्क तथा गले की सफाई नाक कान ऑख दॉत के दर्द दूर होते हैं और नेत्र की ज्योति वढ़ती है।

(ब) **जलनेति** - क्रम से दोनो नासिका छिद्रों से जल को पीते हुए मुँह से अथवा दूसरे नासिका पुट से निकालने से होती है।

(स) **कपाल नेति** - नासिका छिद्रों द्वारा पानी पीने से भी यही लाभ होता है। मुँह में पानी भरकर नासिका छिद्रों से निकालने से होती है।

4. **नौली** - आरम्भ में इस क्रिया को एक साथ करना कठिन है इसलिये तीन भागों में विभक्त करके इसका प्रयास करने में सुगमता होती है।

पहिला भाग - सीधा खड़ा होकर उदर का वायु वाहर निकालना। दोनो हाथो से दोनो घुटनों को दवाकर पूरा उड्डीयान करके अर्थात पेट को विल्कुल पीठ से

मिलाकर दोनो नलों को उभारा जाता है प्रथम पूरे उड्डीयान का अभ्यास पक्का करना होता है। उसके पश्चात् नल स्वयं बाहर निकलने लगते हैं।

दूसरा भाग - एक-एक नल को बारी-बारी से निकाला और घुमाया जाता है। पहले नल निकालने का अभ्यास किया जाता है उसके पश्चात घुमाने का। जिस ओर का नल निकालना हो उस ओर का घुटना दबाया जाता है।

तीसरा भाग - दोनो नलों को बाहर निकालकर पहले एक ओर से फिर दूसरी ओर से घुमाया जाता है। इस क्रिया को शौच से निवृत्त होकर खाली पेट करना चाहिये।

यह क्रिया हठयोग की छः क्रियाओं में सबसे उत्तम मानी गयी है। इससे गोला, तिल्ली, मन्दाग्नि, आम, वात, पेट का कड़पान, पेचिश, संग्रहणी आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं। तथा वात पित्त कफ त्रिदोष एक साथ दूर होते हैं।

5. **त्राटक** - किसी सुखासन से बैठकर धातु या पत्थर की बनी हुई किसी छोटी वस्तु अथवा सफेद कागज पर काला बिन्दु बनाकर अथवा अगरबत्ती जलाकर बिना पलक झपकाये देखते रहना त्राटक है। स्फटिक के यंत्र पर त्राटक करने से किसी प्रकार की हानि नही हो सकती। नेत्र की ज्योति बढती है स्वास्थ्य सुधरता है मन स्थिर होता है चित्त शान्त और प्रसन्न होता है। यदि किसी इष्ट मंत्र के साथ किया जाय तो शीघ्र सफलता मिलती है। रात्रि के समय मोमबत्ती अथवा तिल के तेल की बत्ती का प्रकाश स्फटिक पर डालते हुए त्राटक करना अधिक लाभदायक है। त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है। इस क्रिया को करने वाले को नेति व जल नेति करना चाहिये। नेत्रो को गुलाब जल से धोना चाहिये और नेत्रो का व्यायाम अर्थात् शान्तिपूर्वक दृष्टि को दायें बायें ऊपर नीचे शनैः-शनैः चलाने की क्रिया करनी चाहिये।

त्राटक के तीन भेट बताये गये हैं -

(क) **अंतर त्राटक** - नेत्र बंद करके भ्रूमध्य हृदय, नाभि आदि आंतरिक स्थानो में चक्षुवृत्ति की भावना करके देखते रहना अंतर त्राटक है।

(ख) **मध्य त्राटक** - किसी धातु अथवा पत्थर की बनी हुई वस्तु पर अथवा काली स्याही से कागज पर लिखे हुए ॐ अथवा बिन्दु पर अथवा नासिकाग्र भाग अथवा भ्रूमध्य अथवा अन्य किसी समीपवर्ती लक्ष्य पर खुले नेत्रों से टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य त्राटक है।

(ग) **बाह्य त्राटक** - चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातःकाल उदय होते सूर्य अथवा

अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं।

6. कपालभाति - सुखासन में बैठकर दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिने नथुने को किञ्चित दबाकर बायें नथुने से बलपूर्वक वायु को अंदर खींचे और बिना रोके हुए तुरत ही अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियों से बायें नथुने को बंद करके दाहिने नथुने से पूरी वायु को निकाल दें। इसी प्रकार दाहिने नथुने से वायु खीचकर बाये से निकालें। इस प्रकार अत्यंत शीघ्रता से क्रमशः रेचक पूरक प्राणायाम को कपालभाति कहते हैं। आरम्भ में दस बार करें फिर शनैः शनैः बढ़ाते जाय। इससे नाड़ी शोधन सिद्ध होता है मस्तिष्क और अमाशय की शुद्धि होकर पाचन शक्ति प्रदीप्त होती हे तथा कफजनित रोग दूर होते हैं। इससे नाक, श्वास नाड़ी तथा फेफड़े शुद्ध होते है। श्वास रोग तथा क्षयरोग के लिये लाभदायक है।

दूसरी विधि - दोनो नासिका पुटो से एक साथ उपर्युक्त रीति से वायु को अदर खींचना और बाहर निकालना।

तीसरी विधि - दक्षिण नासिका पुट बंद करके वाम नासिका पुट से उपर्युक्त रीति से पूरक रेचक करना इसी प्रकार वाम नासिका बंद करके दक्षिण नासिका पुट से उसी संख्या में पूरक रेचक करना।

ध्यान से पूर्व इस क्रिया को कर लेना चाहिये जिससे मस्तिष्क साफ हो जाये। नाक पोछने के लिये एक रूमाल पास मे रखना चाहिये।

प्राकृतिक नियमों द्वारा शरीर शोधन - सादा प्राकृतिक खान पान शरीर की सफाई ठण्डे पानी से प्रातःकाल स्नान सर्दी गर्मी सहन करने का अभ्यास। सब कार्यो के लिये निश्चित समय विभाग प्रातःकाल अथवा सायंकाल दो तीन मील खुली हवा मे भ्रमण, भूख से कम और चबा-चबाकर खाना, सप्ताह में एक बार उपवास आदि साधारण स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना। प्रातःकाल और सायंकाल निश्चित समय पर संध्या, व्यायाम, आसन आदि से शरीर स्वस्थ व निरोग रखा जा सकता है।

फेफड़े एवं छाती के रोगों को हटाने के लिये -

पेट का फुलाना - गर्दन कमर सिर को एक सीध में रखकर सीधे खड़े हों दोनो नथुनो से पूरे श्वास को बाहर निकालकर पेट को दोनो हाथों से दवाये। इस प्रकार दोनों हाथों से पेट को दबाते हुए धीमे-धीमे श्वास को दोनो नथुनो से भरते हुए पेट को फुलावें। इस बात का ध्यान रखें कि इस प्रकार श्वास भरने से केवल पेट ही फूले पसलियां और छाती बिल्कुल न फूलने पाये। भरसक श्वास भरने के पश्चात थोड़ी देर उसे वही रोके तत्पश्चात धीमे-धीमे श्वास को दोनो नथुनो सें बाहर निकाले और पेट को भरसक दोनो हाथों से दवाकर अदर की ओर सिकोड़े। इस क्रिया को पाँच छः बार करें।

पसलियो का फुलाना इसके बाद इसी प्रकार दोनो हाथों की हथेलियो से दोनो ओर की पसलियों को दबायें, दोनो नथुनो से श्वास को धीमे-धीमे खीचते हुए भरसक पसलियों को फुलाये, पेट और छाती न फूलने पाये। कुछ देर श्वास को पसलियों में रोककर धीमे-धीमे दोनो नथुनो से निकालें पसलियो को हाथों से दबाते हुए यथा शक्ति सिकोड़े। इस क्रिया को भी पॉच छः बार करें।

छाती का फुलाना - इसके बाद दोनो हाथों की हथेलियों से छाती को हंसली की हड्डी के नीचे दबाकर धीमे-धीमे श्वास को खींचते हुए भरसक छाती को फुलाये। इस बात का ध्यान रखे कि पसिलयां और पेट बिल्कुल न फूलने पाये। कुछ देर श्वास को रोकने के पश्चात धीमे-धीमे श्वास को बाहर निकालें छाती को खूब सिकोडे। इस क्रिया को भी पाँच छः बार करें।

पूरी गहरी सांस - उपर्युक्त तीनो क्रियाओं के अभ्यास के पश्चात इस प्रकार दोनो नथुनो से पूरा गहरा श्वांस हमें कि पहले पेट फिर पसलियां और अन्त में छाती फूले। कुछ देर रोकने के पश्चात इस प्रकार धीमे-धीमे दोनो नथुनो से श्वास निकाले कि छाती सिकुड़े, फिर पसलियाँ और अन्त में पेट सिकुड़कर पीठ से लग जाय। इस क्रिया को भी पाँच छः बार करें। इन क्रियाओं के करने से सब प्रकार के रोग और निर्बलता दूर होकर शरीर स्वस्थ और निरोग हो जायेगा।

शंख प्रच्छालन - इसमें मुख द्वारा धीरे-धीरे जल पीकर कण्ठ तक भर लिया जाता है फिर उदर में चारों ओर से चालित करके गुदा मार्ग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। इस क्रिया को शंख प्रच्छालन इसलिये कहते हैं कि जिस प्रकार शंख के चक्राकार मार्ग में पानी डालने से घूमता हुआ जल बाहर आ जाता है उसी प्रकार मुख से जल पीने पर कुछ समय पश्चात मल को साथ लेकर अंतड़ियों को शुद्ध करता हुआ गुदा द्वार से बाहर आ जाता है।

विधि - एक बाल्टी में नमक मिला हुआ गर्म जल लेकर काग आसन पर बैठे। दो गिलास जल पीकर तुरन्त ही क्रमशः दायें से बाये चार बार सर्पासन करें अर्थात दानों पंजो को आपस मे मिलाकर दोनो हथेलियों के बल से कमर से ऊपरी विभाग को दायें बाये बारी-बारी से मोड़ते हुए सर्पासन करें। इसके पश्चात शीघ्र ही उर्ध्व हस्तोत्तानासन लगभग चार बार दाये से और चार बार बाये से करें। अर्थात कमर के ऊपरी विभाग को उत्तान देते हुए दोनो हाथों को सीधा ऊपर किये हुए ऊपर से दोनों हाथो की उंगलियों को सटाये हुए क्रमशः दाये बायें मोड़े। इसके बाद शीघ्र कटि चक्रासन करें अर्थात सीधे खड़े होकर दोनो हाथों को सीधा फैलाकर कमर से ऊपरी भाग को क्रमशः दायें बायें मोड़े। इसके बाद शीघ्र ही उदराकर्षासन क्रमशः चार बार

दाये व बाये से करे अर्थात कागासन मे बैठकर बाये पैर के घुटने को मोडकर दाये पाव की पिंडली के पास लाते हुए पृथ्वी से कुछ ऊपर ही रखें। साथ ही कमर से ऊपरी भाग को क्रमशः दायें बायें की ओर मोड़े। फिर एक गिलास पानी पिये और पहले की भाँति चारों आसन करें। चार से आठ गिलास पानी पीने के पश्चात शोच की हाजत महसूस होने लगेगी। शौच के लिये शीघ्र चले जावें और शौच पर बैठने के बाद भी उदराकर्षन आसन करें इस प्रकार करने से पहले मल निकलेगा फिर पतला मल निकलेगा उसके पश्चात पीला पानी निकलेगा। शौच से आकर फिर उसी प्रकार जल पीवें और चारों आसन बारी बारी से करें। शौच की हाजत होगी। यहाँ तक कि केवल पानी ही निकलने लगेगा फिर पहले की भांति पानी पीकर आसन करने के पश्चात सफेद पानी निकलेगा।

सफेद पानी निकलने के पश्चात बिना नमक का सादा गरम पानी दो तीन गिलास पीकर गजकरणी क्रिया द्वारा निकाल दें। इस क्रिया को करने के बाद ठण्डे पानी से स्नान नहीं करे। गरम पानी से बंद कमरे में हवा से बचाव रखकर स्नान करें ओर स्नान के पश्चात कपड़े पहनकर स्नान घर से बाहर निकलें। अथवा स्नान न करे।

शंख प्रक्षालन के पश्चात एक घंटे के भीतर ही भोजन कर लेना चाहिये। बिना लाल मिर्च और खटाई के चावल तथा मूंग की खिचड़ी अथवा गेहूँ का दलिया खावे खाते समय अधिक से अधिक 100 ग्राम और कम से कम 50 ग्राम शुद्ध गाय का घी भी डालें। भोजन करते समय पानी न पीवे। एक घंटे के बाद पी सकते हैं। खिचडी खाने के चार घंटे बाद मुलायम मीठे फल खा सकते हैं।

शंख प्रच्छालन के बाद अधिक देर तक भूखा नहीं रहना चाहिये जिस दिन शख प्रच्छालन करें उसके बाद 24 घंटे तक दूध दही न खायें इस क्रिया के करने के एक दिन पूर्व किसी रेचक औषधि द्वारा पेट की सफाई कर लें और इस दिन हल्का भोजन ले इस क्रिया को रोज न करें आवश्यकता पड़ने पर ही करें। इस क्रिया से देह का निर्मल होना कोष्ठबद्धता तथा पेट व आमाशय आदि में सब रोगें का दूर होना बतलाया गया है। शरीर शुद्ध होकर कान्तिमान हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सायें - (1) जब आधे सिर का दर्द अथवा इसी प्रकार का कोई और विकार उत्पन्न होने से पूर्व या उसी समय जिस नथुने से श्वास चलता हो उसे बंद रखे।

(2) सिर के चक्कर होने पर दोनो हाथों की कुहनी पर जोर से कपड़े की पट्टी वाधे आधे सिर के दर्द में जिस ओर दर्द हो उस ओर पट्टी वाँधे।

(3) पारी का बुखार आने वाले दिन प्रातःकाल ही सफेद अपामार्ग या मौलसिरी के पत्ते हाथों से रगड़कर हल्के कपड़े से बांधकर सूंघते रहना चाहिये। कागजी नीबू के पत्ते मलकर सूंघने से भी बुखार में आराम मिलता है।

(4) दाहिने स्वर से भोजन आदि करके बायें करवट लेटने से अजीर्ण आदि रोग दूर होता है।

(5) भोजन के बाद रात्रि में सोते समय सर्वप्रथम दाये करवट लेटकर 16 गहरी साँसे लें और छोड़े फिर चित्त लेटकर 32 तत्पश्चात बायें करवट लेटकर 64 सांसे ले और छोड़े। आरामदायक नींद आती है और भोजन पाचन आसानी से होता है।

(6) कोष्ठ बद्धता दूर करने के लिये सौ बार पेट को खूब सिकोड़े और फैलावे। पहले एक-एक पैर को घुटने के ऊपर हिस्से से मिलाकर पूरा उड्डीयान कर पेट की ओर खूब दवायें फिर इसी प्रकार दोनो पैरों को दोनो हाथों से दबाये।

(7) चक्षुरोग - प्रातःकाल विस्तर से उठते ही मुँह में पानी भरकर आँखों में 20-30 छींटे पानी के डालकर धो डालें, स्नान के समय दोनो पैरों के अँगूठे मे तेल लगाये।

(8) रक्त विकार - शीतली प्राणायाम से रक्त विकार दूर होता है। और रक्त शुद्ध होता है।

(9) 'लू' मे चलते समय कानों को कपड़े से बाधने पर शरीर मे लू नहीं लगती

(10) दिमागी काम में थकावट होने पर कुर्सी आदि का सहारा लेकर आँखे बन्द करके शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दें, थकावट दूर होने पर स्मरण शक्ति ठीक काम करने लगेगी। शिथिलीकरण अर्थात शरीर के सारे अंगों को ढीला करके चित्त शवासन में लेटने से थकावट दूर होती है।

(11) नींद न आने पर पैर के नाखूनो में तेल लगावें। नाभि से नीचे भाग मे गीला कपड़ा बांधे।

(12) मनुष्य अपने ही विचारों का बना हुआ है। जिसके जैसे विचार है वह वैसा ही है इसलिये अरोग्यता की भावना करने और 'ओ३म् आनन्दम् ओ३म् आरोग्यम्' के जप से सब रोग दूर होते हैं।

आकर्षण शक्ति को बढाने के साधन

(1) मन को एकाग्र करने का अभ्यास -

(2) शरीर की आंतरिक क्रियाओं का तथा रक्त प्रवाहिनी नाड़ियों के वशीकार करने का अभ्यास

(3) त्राटक (4) प्राणायाम (5) आरोग्यता और स्वास्थ्य की

दृढ भावना (6) अच्छी प्रकृतियो को ग्रहण करना और बुरी प्रकृतियो का त्याग करना।

संकल्प शक्ति - Will Power - उपर्युक्त उपायों का मुख्य भाग संकल्प शक्ति है। बिना संकल्प शक्ति के इनमें से किसी में भी सफलता का होना असम्भव है। संकल्प शक्ति ही मनुष्य के जीवन में उन्नति और अवनति का कारण होती है। सब प्रकार की कामनाओं का मूल संकल्प है। आज हमें जितने महापुरुष दीख पडते हैं जिनके नाम पर संसार फूल चढ़ाता है जिन्हें अत्यंत आदर से स्मरण करता है उनके जीवन को पवित्र और उच्च बनाने का कारण संकल्प शक्ति ही है।

प्रारब्ध कर्म संकल्प द्वारा ही क्रियमाण होता है इसलिये मनुष्य अपने संकल्प को विशुद्ध रखे और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुझ पर कोई भारी विपत्ति आने वाली है शीघ्र ही अपने संकल्प और विचारों को शुद्ध और पवित्र बना ले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता। शुद्ध विचार वाले मनुष्य पर यदि अकस्मात कोई विपत्ति आ भी जाय तो उसका बोझ तुरत ही दूसरे लोग बाँट लेते हैं। अर्थात अपनी सहायता और सहानुभूति से उसकी विपत्ति को तत्काल ही दूर कर देने का यत्न करते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध दुर्जन को तत्काल दुःख में डालने के लिये सब के सब तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार जो मनुष्य दु खों को अपने जीवन में कम करने की इच्छा रखता है उसको चाहिये कि वह संकल्प विद्या प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सीखे।

जैसे उगते हुए पौधे को उखाड़ फेंकना अति सुगम है, परन्तु जब वह वृक्ष बन जाता है तब उसको जड़ से उखाड़ना मनुष्य की शक्ति से बाहर होता है। ठीक ऐसे ही उत्पन्न होते दुष्ट संकल्पों का उच्छेदन और उनके स्थान में पवित्र तथा शुद्ध सकल्पों का संयोजन करना अतीव सुगम होता है। परन्तु वही जब एक वृक्ष का आकार धारण कर लेता है तब उसको नष्ट करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार जो उठते हुए दुष्ट संकल्प को उसी समय मिटा देते हैं। वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्म के फल दुःख से भी बचे रहते हैं। संकल्प विद्या की शक्ति का पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यंत कठिन है क्योंकि संसार के प्रत्येक पदार्थ में वह विद्या विराजमान है आज तक जितनी मानसिक शक्ति जैसे मैस्मैरिज्म, हिप्नोटिज्म टैलीपैथी स्पिुअलिज्म आदि मनुष्य को विदित हुई है उन सबमें यही अलौकिक शक्ति काम करती है।

ईश्वर की शक्ति जो आकाश में विद्यमान है, जिस पर संकल्प की तरंगे दूर तक दौड़ती हैं, हमारे मस्तिष्क में भी विद्यमान हैं। निरंतर विचार से उसके अंदर गति होती है और मस्तिष्क से उसी प्रकार निकलती है जिस प्रकार विद्युत धारायें निकला

करती है विचार की वे धाराये जो अनिच्छित और संकल्प की सरक्षा के बिना बाहर को निकलती है शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। परन्तु विचार शक्ति की वे तरंगे जिनके साथ संकल्प शक्ति का प्रबल बल विद्यमान होता है मनुष्य के मस्तिष्क से निकलकर रुकावट और विरोध के होते हुए भी उस समय तक निरंतर दौड़ती रहती है जब तक उनको ऐसा कोई मन न मिल जाय जो उस विचार के साथ सहानुभूति और अनुकूलता रखता हो।

यदि आप घृणा, धिक्कार, फटकार या शत्रुता के विचार इसी संकल्प शक्ति की सहायता से किसी के लिये भेजेंगे तो वे विचार जीवित शक्ति बन जायेगे और वे तब तक निरंतर दौड़ते रहेंगे जब तक कि उसके मन तक न पहुँच जाय जिसके लिये वे भेजे गये थे। वे इसके अतिरिक्त और बहुत से मनो के अन्दर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं। प्रेम का जो प्रत्येक विचार बाहर जाता है, अपने परिणाम मे प्रेम की पूरी शक्ति लेकर उसी के पास वापस आ जाता है। क्योंकि आसमान मे अनेक भांति के विचार चक्कर लगाते रहते हैं इसलिये जिस प्रकार के विचारों की मनुष्य में ग्रहण करने की प्रकृति होती है, उसी प्रकार के विचारों को वह आकाश से अपनी ओर खींच लेता है। यही कारण है कि यदि कोई बुरा विचार मन में उत्पन्न हो जाय तो फिर उसी प्रकार के विचारों की लड़ी मन में बन जाती है और वह तब तक बंद नही होती जब तक कि मनुष्य स्वयं अपनी संकल्प शक्ति से अपने मन को उस ओर से वहीं रोक देता। जब एक मनुष्य अपने अंदर से समस्त शत्रुता के विचार निकालकर सारे संसार के लिये भलाई और सुख की प्रार्थना करता है तब उसको उसके बदले मे विश्वासमात्र का प्रेम प्राप्त होता है और तब संसार का कोई पदार्थ उसके लिये त्रासोत्पादक नही रहता है।

अतः प्रतिदिन प्रतिक्षण मनुष्य को चाहिये कि वह निराश न हो वह सदैव आशाजनक प्रसन्नता स्वास्थ्य और सफलता के विचारों को मन में धारण करें। सुख और आशा की तरंगे रक्त की गति पा ही उत्तम प्रभाव डालेगी और उसको शुद्ध तथा लाल करके स्वास्थ्य के सुप्रभाव को सम्पूर्ण देह में बाँट देगी। जिससे आप अपने स्वास्थ्य को अच्छा और शरीर को व्याधियों से सुरक्षित रख सकें।

संकल्प शक्ति को पूरा विकास देने के लिये दृढ़ आत्मविश्वास की आवश्यकता है और आत्मविश्वास की दृढता आस्तिकता अर्थात् ईश्वर भक्ति से होती है। जब मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर का सहारा लेकर सारे कार्यो को उसके समर्पण करके अनासक्ति और निष्काम भाव से उसके लिये ही और अपने को केवल उसका एक (करण) साधन समझकर कर्तव्य रूप से करता है तो उसकी स्वयं अपनी

शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियां भी अगाध और असीम हो जाती है। यही कारण है कि ईश्वर भक्तों द्वारा जो महान कार्य और अद्भुत चमत्कार अनायास साधारणतया प्रकट हो जाते हैं उनके अनुकरण करने में संसार की सारी भौतिक शक्तियां अपना पूरा बल लगाने पर भी असमर्थ रहती हैं।

आपका मन कमल के पत्ते की भाँति निर्लिप्त होना चाहिये। जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी में रहते हुए भीगता नही है, उसी प्रकार आपको भी संसार के भोगोको भोगते हुए उसमें लिप्त नहीं होना चाहिये। आपकी दृष्टि के सामने प्रतिपल आपका लक्ष्य रहे।

आपने देखा होगा कि इस युग में अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो हमेशा भोग मे ही लिप्त रहते हैं। उनके प्रत्येक कार्यकलाप भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये होते है यहॉ तक कि उसकी पूर्ति के लिये वे उचित अनुचित कुछ भी कर डालते हैं। ऐसे व्यक्तियों को आप अनुचित न करने की सलाह दें तो वे एक ही बात कहेंगे "छोडो भी कैसा पाप कैसा पुण्य, संसार में चार दिन के लिये आये हैं और पाप-पुण्य के विषय में सोचते रहें। "खाओ पियो और मौज करो बाद में जो कुछ होगा देखा जायेगा।" ऐसे लोग साधना के विषय में सोच ही नही सकते और यदि ख्याति पाने के उद्देश्य से साधना के मार्ग पर चल पड़े तो उन्हें सफलता नहीं मिल सकती। अत साधक का मन निर्लिप्त होना चाहिये। इससे आत्मशक्ति बलवान होती है और मानसिक एकाग्रता शीघ्र प्राप्त हो जाती है।

मन को एकाग्र करना कठिन कार्य है। इसकी कार्यप्रणाली को समझकर इस कठिनाई को कुछ हद तक दूर किया जा सकता है।

चेतन और अवचेतन मन - मानव मन को दो भागों में बाँटकर इसकी कार्य प्रणाली का अध्ययन किया जाता है। प्रथम है चेतन मन और दूसरा अवचेतन मन।

चेतन मन तो वह है, जो हमारी समस्त शारीरिक क्रियाओं जैसे, भोजन का पाचन, रक्त परिसंचरण, विसर्जन आदि पर नियंत्रण रखता है इसके अतिरिक्त हम अनेक कार्यो के विषय में जो कुछ भी सोचते हैं अथवा किसी भी विषय में जो निर्णय लेते हैं वह सब हमारे चेतन मन द्वारा ही संपादित होता है।

इसके अतिरिक्त हमारा जो अवचेतन मन है, उसकी कार्यप्रणाली हमारे चेतन मन से सर्वथा भिन्न है। अवचेतन मन की कोई सीमा नही है और उस पर हमारा कोई नियंत्रण नही है। अवचेतन अव्यक्त है। कल्पना के पंखो पर सवार वह यू ही इधर उधर भ्रमण करता रहता है। जब यह कल्पना के सहारे उड़ता है तो हमारे चेतन मन को भी अपनी ओर खींच लेता है। निद्रा अवस्था में हमारा चेतन मन सो जाता है

क्योकि उस समय हमारी समस्त इन्द्रिया थक कर सो चुकी होती है, किन्तु हमारा अवचेतन मन उस समय भी जाग्रत अवस्था में रहता है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति निद्रा अवस्था में स्वप्न देखता है। स्वप्न की अवस्था मे भाँति-भाँति के दृष्य हमें दिखायी पड़ते हैं जबकि हमारी आँखें बन्द होती हैं। यह अवचेतन मन की कल्पनाशीलता है।

स्वप्नों में हमारे भूत, भविष्य और वर्तमान की झलक होती है। अर्थात, या तो हम स्वप्न में अपना भूतकाल देखते हैं, वर्तमान देखते हैं अथवा अपना भविष्य देखते हे। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे अवचेतन मन को हमारे तीनो कालों का ज्ञान होता है क्योंकि हमारे स्वप्न हमारे अवचेतन मन का ही चमत्कार होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने अवचेतन मन पर नियंत्रण कर हम स्वय से सम्बन्धित बहुत सी घटनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु अवचेतन मन पर नियंत्रण करने से पहले चेतन मन को नियंत्रित करना पड़ता है। यह सब कठिन साधना द्वारा ही सम्भव है। अवचेतन मन पर नियंत्रण पा लेने से केवल स्वय के भूत, भविष्य और वर्तमान का ही ज्ञान नही प्राप्त होता बल्कि उस व्यक्ति के लिये कोई कार्य असंभव नही होता।

अवचेतन मन प्रत्येक समय जागृत अवस्था में रहता है। इसे इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों की सहायता से और भी अधिक शक्तिशाली बनाया जाता है। ये तीनो नाड़ियां हमारे मस्तक पर मिलती हैं। इनमें से सुषुम्ना नाड़ी कुण्डलिनी की ओर जाती है। यदि हम प्राणायाम द्वारा अपने शरीर एवं आत्मा को शुद्ध कर लें और उसके पश्चात योग द्वारा समस्त चक्रों का भेदन करके कुडलिनी को जागृत कर ले तो इस प्रकार कुण्डलिनी का सम्बन्ध सुषुम्णा नाड़ी से हो जाता है। ऐसा होने पर हमारा अवचेतन मन हमारे वश में हो जाता है।

नाड़ियों के सम्बन्ध में अगले अध्यायों में विस्तृत रूप से बताया गया है परन्तु 'कुण्डलिनी जागरण' किसी गुरु के सान्निध्य में करना चाहिये अन्यथा त्रुटि होने पर हानि होने की संभावना बनी रहती है। इसलिये इस पुस्तक में उसकी विधिनहीं दी जा रही है। इन शक्तियोंकी प्राप्ति का उद्देश्य सदैव लोक कल्याण होना चाहिये। स्वार्थ के लिये प्रयोग करने पर इन शक्तियों के छिन जाने का भय रहता है। यह आवश्यक नही के 'कुण्डलिनी जागरण' के पश्चात ही साधक आध्यात्मिक शक्ति का स्वामी बन सकता है। कुछ अन्य सरल उपाय हैं जिनके द्वारा भी साधक अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सकता है। परन्तु मेरा बार-बार अनुरोध है कि ऐसी शक्तियो की प्राप्ति के बाद उनका उपयोग देश, समाज की भलाई के लिये ही करें।

निज- लाभ या किसी को नुकसान पहुँचाने का प्रयास कभी न करें।

चिन्तन मनन द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का विकास -

केवल चिन्तन मनन द्वारा भी आप अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियों के स्वामी बन सकते हैं। पर हाँ आपको इसके लिये निरंतर श्रद्धा पूर्वक अभ्यास की आवश्यकता है। कछ उपाय नीचे दिये जा रहे हैं इन्हें नियमित रूप से करें कुछ समय बाद आपको स्वयं ही परिवर्तन महसूस होगा। यह विद्यार्थियो के लिये विशेष कर लाभकारी होगा।

1. प्रातःकाल अथवा रात्रि विश्राम से पूर्व, खाली पेट, एकान्त स्थान में दीवार से पीठ सटाकर चटाई अथवा कम्बल पर बैठें। अपने मस्तिष्क को विचार शून्य रखने का प्रयत्न करें। प्रारम्भ में इधर-उधर के विचार आते हैं उन्हें हटाने पर नये विचार आयेंगे उन्हें भी प्रयास पूर्वक हटायें इस प्रकार बार-बार प्रयास के बाद मस्तिष्क विचार शून्य हो जाय तब आँखे बन्द करें। इस अवस्था में आपको अपने मानस पटल पर एक दिव्य प्रकाश दिखायी पड़ेगा। इस अवस्था में आप अपने मन को पूर्ववत् वश मे किये हुए उस दिव्य ज्योति का अपने मानस पटल पर बनाये रखने का प्रयास करें। दिव्य ज्योति बार-बार लुप्त हो जायेगी। जब भी दिखाई पड़े अपने मानस पटल पर अधिक से अधिक समय तक बनाये रखने का प्रयास करें इसके लिये अपने स्वाशों की गति धीमी कर लें तथा मन को इधर-उधर न जाने दें। मन को वश में रखने के लिये अपने किसी इष्ट मन्त्र का मानसिक जाप कर सकते हैं परन्तु ध्यान रहे इस दशा मे होठ आदि नहीं हिलने चाहिये। इससे आपको आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी। और जब आपकी स्थिति इतनी परिपक्व हो जाय कि जब भी आप चाहें दिव्य ज्योति के दर्शन हों तथा वह प्रकाश बिना प्रयास के भी निरंतर बना रहे तो आपका प्रत्येक कार्य बिना किसी रुकावट के सम्पन्न होगा। आपकी सारी विघ्न बाधायें स्वतः ही समाप्त होती चली जायेंगी।

2. रात्रि के समय शांत चित्त होकर बिस्तर पर लेटें परन्तु तकिये का प्रयोग न करें। आज की दिनचर्या के बारे में सोचें कि प्रातः उठने से लेकर बिस्तर पर सोने तक क्रम से आपने कौन-कौन कार्य किया। किन व्यक्तियों से मिले परन्तु ध्यान रहे इन सबमें आपका बहुत अधिक समय व्यतीत न हो अन्यथा नींद आ जायेगी।

समस्त दिनचर्या को दुहरा लेने के पश्चात् एक-एक विचार को मस्तिष्क से निकाल दें। अपने मन को एकाग्र करके भवों के मध्य में ध्यान केन्द्रित करें। इस अभ्यास में भी आपकी आँखें बन्द रहेंगी। अब आप हाथ में ज्योति लिये एक दिव्य बालिका की कल्पना करें और उस भवों के मध्य में देखने का प्रयास करें। धैर्य से काम लेते हुए भवों के मध्य में ध्यान रखें। मन को एकाग्र रखते हुए मस्तिष्क में उस

बालिका के देखने के अतिरिक्त अन्य कोइ विचार न लाये. उपरोक्त स्थिति दृढ़ हो जाने पर निश्चय ही हाथ में दिव्य ज्योति लिये एक बालिका आपको दिखायी पड़ेगी। यह भी हो सकता है कि आरम्भ में आपको वालिका के स्थान पर कोई भयानक आकृति दिखायी दे। ऐसी अवस्था में आपका मस्तिष्क विचार शून्य नही है। ऐसी स्थिति में उठकर आंखे धो लें और थोड़े विश्राम के पश्चात पुनः अभ्यास करें।

कुछ दिनों तक श्रद्धापूर्वक अभ्यास रत रहने पर सफलता अवश्य मिलेगी। जव स्थिति परिपक्व हो जाय अर्थात आँखें बन्द करते ही वालिका आपके सामने प्रकट होने लगे तब उसके समक्ष आप अपनी लोक कल्याणार्थ इच्छाओं को व्यक्त करें। आपकी ये इच्छायें निःसंदेह पूरी होगी।

3. इस अभ्यास में सप्ताह की दिनचर्या पर ध्यान दिया जाता है। जिस दिन आप चिन्तन करते हैं उसके पहले के तीन दिनों में आपने क्या किया है और आने वाले तीन दिनों में आप क्या-क्या करने वाले हैं। इस विपय में क्रमानुसार शीघ्रता से चिन्तन करें। यह आवश्यक नहीं कि आप विस्तर पर ही लेटकर करें। आप बैठकर भी कर सकते है परन्तु वैठते समय कमर सीधी रहनी चाहिये।

चिन्तन के पश्चात अपने मस्तिष्क को विचार रहित होने दें। मस्तिष्क को विचार शून्य कर मन को एकाग्र करें। मन के एकाग्र होते ही भवों के मध्य एक एक दिव्य ज्योति की कल्पना करें और उसके दिखायी देने पर पूरी तन्मयता से देख। प्रारम्भ में ज्योति नहीं दिखलायी पडती परन्तु निरंतर प्रयास करते रहने पर सफलता अवश्य मिलेगी। ज्योति के दर्शन होने पर आपको कुछ विचित्र सी आवाजें सुनाई पडेगी तथा शरीर में कम्पन अनुभव होगे। ऐसी स्थिति में भी आप बिना घबराये हुए ध्यान लगाये रहें। अपनी समस्त मानसिक शक्ति बटोर कर आप इनका सामना करे।

निरंतर अभ्यास करने से आप आध्यात्मिक शक्ति के स्वामी हो जायेगे। आपका अपने अवचेतन मन पर पूरा अधिकार हो जायेगा। परन्तु यह ध्यान रहे कि आध्यात्मिक शक्ति एक सार्वजनिक शक्ति है इसका उपयोग लोक कल्याण के लिये ही करें। अपने व्यक्तिगत जीवन मे, जीविकोपार्जन, प्रसिद्धि प्राप्ति, या अपनी व्यक्तिगत बाधाओ को दूर करने आदि के लिये उपयोग में न लायें। अन्यथा हानि होने का भय रहता है।

कल्पना और स्मृति

कल्पना और स्मृति का योग मे बहुत अधिक महत्व है। हमारा मन प्रत्येक क्षण कोई न कोई कल्पना किया करता है। वास्तव में कल्पना अवचेतन मन की उडान है।

परन्तु हमारा मन ऐसी ही कल्पना करता है जो इस ससार मे घटित हो सकता है। ऐसी कोई कल्पना सम्भव नही है जो इस संसार में घटित नही हो सकती। कल्पना मे हम कोई ऐसा दृश्य नही देख सकते जो हो नही सकता अथवा ऐसा कोई कार्य नही सोच सकते जो नही हो सकता। इसका कारण यह है कि पृथ्वी के निर्माण काल से अब तक की सभी ध्वनियां सभी दृश्य भले ही लुप्त हो गये हैं, फिर भी ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है। यही ध्वनियां और दृश्य हमारी बुद्धि को बार-बार प्रभावित करते है, फिर जब बुद्धि की सहायता से हमारा अवचेतन मन कल्पना करता है तो इन्ही मे से कुछ दृश्य अथवा कुछ ध्वनिया हमारी कल्पना में आ जाती है।

जिस प्रकार दूरदर्शन से प्रसारित रेडियो तरंगो में छुपे हुए दृश्य और ध्वनियो को 'टेलिविजन' की सहायता से देखा जाता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में व्याप्त दृश्य और ध्वनियों को अवचेतन मन की सहायता से पकड़ा जाता है। अवचेतन मन पर नियंत्रण न होने से उसकी कल्पनाओं पर भी कोई नियंत्रण नहीं होता। अवचेतन मन पर नियंत्रण करके वाह्य जगत घटनाओं के बारे में जाना जा सकता है।

मनुष्य की भीतर भी वाह्य जगत् की भाँति अनन्त शक्तियां सूक्ष्म रूप मे छिपी हुई है। इन्हें जागृत करने के लिये मनुष्य की कल्पना शक्ति और स्मृति की आवश्यकता होती है। अनुभव किये हुए विषय का फिर चित्त में आरोह पूर्वक उससे अधिक नही किन्तु तन्मात्र विषयक ज्ञान होना स्मृति है। जब किसी दृष्ट अथवा श्रुत आदि वस्तु का ज्ञान होता है तब एक प्रकार का उस अनुभूत वस्तु का संस्कार चित्त मे पड़ जाता है। फिर जव किसी समय में उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर वह संस्कार प्रफुल्लित हो जाता है तो इसे स्मृति कहते हैं।

हमारे शरीर में बहुत से सूक्ष्म स्थान ऐसे हैं जो शक्तियों के केन्द्र हैं। इन्हे उत्तेजित कर इनकी शक्तियों को काम में लाया जा सकता है। जिस प्रकार अवचेतन मन को नियंत्रित करके बाह्य जगत की शक्तियों को उपयोग में लाया जाता है उसी प्रकार आंतरिक जगत की शक्तियों को अवचेतन मन से जोड़कर उपयोग में लाया जा सकता है। आज संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं या किसी क्षेत्र विशेप मे अग्रणी लोग हैं उन्होने किसी न किसी विधि से अपनी आन्तरिक शक्तियों को पूर्णतया या आंशिक रूप से जाग्रत कर लिया है अथवा ये शक्तियां जन्म से ही जाग्रत अवस्था में होती है जो थोड़े से अभ्यास से उन्हें चरम बिन्दु पर पहुंचा देती है। ऐसे व्यक्ति समाज में अग्रणी होते है, इनके समस्त कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होते हें तथा इनमें वहुत से व्यक्तियों को प्रभावित करने की क्षमता होती है।

सुने हुए अथवा पढ़े हुए विषय की कल्पना मन में उत्पन्न होती है। यदि उत्पन्न

हुई कल्पना की स्मृति देर तक चित्त में बनाये रखी जाय तो लगातार श्रद्धापूर्वक अभ्यास से चित्त उस विषय के तदाकार हो जाता है। इस अवस्था म सम्बन्धित विषय के गुण साधक में आ जात हैं। इन गुणों को साधक आवश्यकता पड़ने पर व्यक्त कर सकता है। जिसका चित्त विषय में जितना अधिक तन्मय होता है उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सुन्दर होती है।

जैसे रेखागणित के अध्ययन में मान लीजिये त्रिभुज से सम्बन्धित प्रमेय की समस्या है। सर्वप्रथम हम त्रिभुज की कल्पना अपने मन में करते हैं। तत्पश्चात् मन को एकाग्र रखते हुए त्रिभुज तथा उसके गुणों की स्मृति चित्त में बलपूर्व बनाये हुए समस्या पर क्रमशः विचार करते हैं। इस अवस्था में हमारा चित्त समस्या के जितने अधिक तद्रूप होता है हम उतनी ही शीघ्रता से समस्या का समाधान कर लेते है तथा हमारी अभिव्यक्ति भी उतनी ही स्पष्ट होती है। इसी प्रकार कोई अभिनेता स्वयं को पात्र के गुणों से जितना अधिक तद्रूप कर लेता है उसका अभिनय उतना ही अच्छा होता है। संगीत, साहित्य, तकनीकी ज्ञान, आदि संसार के प्रत्येक क्षेत्र मे जिसने स्वयं को अपने विषय के साथ जितना अधिक तदाकार कर लिया है वह अपने क्षेत्र में उतना ही निपुण है।

हमारे शरीर में बहुत से सूक्ष्म स्थान हैं जो अपरिमित शक्ति के केन्द्र हैं। इनका ज्ञान पूर्ववर्ती योगियों को हो चुका है। परंतु ये स्थान इतने सूक्ष्म होते हैं कि प्रारम्भ मे हम मात्र कल्पना द्वारा ही इन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। स्थिति परिपक्व होने पर हमारा ध्यान उन्ही शक्ति केन्द्रो (चक्रस्थानों) पर लगने लगता है। ये क्रमश मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा
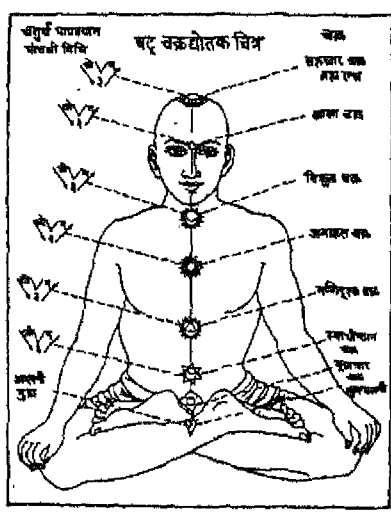
चक्र और सहस्त्रारचक्र है। ये चक्र बिना खिले हुए कमल के सदृश अधोमुख होते हैं। जब इन चक्रों की कल्पना कर देर तक उनकी स्मृति बनाये हुए प्राणों को उन्ही स्थानो पर रोके हुए चित्त वृत्तिकों उनके तदाकार कर देते हैं तब ये चक्र उर्ध्वमुख होकर खिले हुए कमल के सदृश हो जाते हैं और व्यक्ति में इनसे प्राप्त गुणों का समावेश हो जाता है। जैसे मूलाधार चक्र पर ध्यान से आरोग्यता, आनन्द चित्त, वाक्य, काव्य, प्रबन्ध-दक्षता, आदि गुणों का विकास होता है। इसी प्रकार आज्ञा चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से वे सभी फल प्राप्त होते हैं जो भिन्न-भिन्न चक्रो पर ध्यान करने से प्राप्त होते हैं।

कल्पना और स्मृति का विकास करके आप अनी आन्तरिक शक्तियों को कई गुना बढ़ा सकते हैं। इन शक्तियों के विकास का सर्वोत्तम समय गृहस्थ जीवन के पहले का है। तब चूकि आपके पास गृहस्थ जीवन की अपेक्षा से अधिक समय होता है तथा मन भी सरलता से एकाग्र हो जाता है। कल्पना और स्मृति शक्ति बढ़ाने के लिये अपनी दिनचर्या नियमित रखें। अपने कार्य व स्वभाव के अनुसार दिन का विभाग कर सामान्य परिस्थितियो में उन पर अमल करें। जो कुछ भी सुने देखें पढे उन्हें अपनी स्मृति में बनाये रखने का प्रयत्न करें। जो कोई भी कार्य प्रारम्भ करने की सोचे उसे उसी समय से प्रारम्भ करें कल पर न टालें। प्रारम्भ किये हुए कार्यो को पूर्ण करके ही छोड़े अधूरे में न छोड़े। प्रतिदिन शाम के समय उस दिन के किये गये कार्यो को घटनाओं को दुहरायें तथा अगले दिन कौन-कौन से कार्य करने है उन्हें भी स्मरण कर लें। यदि और अधिक समय मिले तो उस दिन के मुख्य समाचारों को दुहरा लें। स्मरण के साथ-साथ अभिव्यक्ति भी आवश्यक है अतः इसके लिये आवश्यक है अपने कुछ मित्रों के साथ सम्भाषण करें। कुछ लोग डायरी लिखना पसन्द करते हैं। इससे प्रथम तो यह लाभ है कि पूरे दिन के कार्यो की स्मृति हो जाती है तथा प्रत्येक घटना का लिखित व्यौरा होने से उसे बहुत समय बीत जाने के बाद भी जाना जा सकता है। तथा दूसरी बात यह है कि अपनी अभिव्यक्ति हो जाती है। परन्तु इसकी कमी यह है कि हमारी भावाभिव्यक्ति अच्छी है या बुरी इस बात का ज्ञान नही हो पाता। अतः संभाषण आवश्यक है। इससे अपनी कमियो का ज्ञान होता है। अपनी कमियों को, त्रुटियों को सहृदयतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये तथा स्वयं में सुधार लाना चाहिये।

कल्पना और स्मरण शक्ति बढ़ाने का एक बाह्य उपाय दृष्टि त्राटक भी है, इससे नेत्रों की ज्योति बढ़ती है और शीघ्र ही ध्यान लगने लगता है।

□□

आसन एवं प्राणायाम

जिस रीति से स्थिरतापूर्वक बिना हिले डुले और सुख के साथ बिना किसी प्रकार के कष्ट के दीर्घकाल तक बैठ सकें वह आसन है। हठयोग में नाना प्रकार के आसन हैं जो शरीर के स्वस्थ हल्का और योग साधन के योग्य बनाने में सहायक होते हैं। यहाँ पर उन आसनों से अभिप्राय है जिनमें सुखपूर्वक निश्चलता के साथ अधिक से अधिक समय तक ध्यान लगाकर बैठा जा सके उनमें से अधिक उपयोगी निम्नलिखित है।

(1) **स्वस्तिक आसन** - दायें पाव के अंगूठे और अन्य चार उगलियों को कैंची के सदृश फैलाकर उसके अंदर बायें पाँव और जाँघ को जोड़ने वाले नीचे भाग को दबायें और दायें पाँव की तली बाँयी जांघ के साथ लगाये इसी प्रकार बांये पैर को बाये पैर के नीचे ले जाकर अंगूठे और उंगलियों की कैंची में दायां पांव और जांघ को जोड़ने वाले नीचे भाग को दबाये और बाये पाँव की तली दायें जाँघ के साथ लगायें।

(2) **सिद्धासन** - बायें पैर की एड़ी को सीवनी अर्थात गुदा और उपेस्थिन्द्रिय के बीच में इस प्रकार दृढता से लगावे कि उसका तला दायें पैर की जाँघ को स्पर्श करें। इसी प्रकार दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय के जड़ के ऊपर भाग में इस प्रकार दृढ़ लगावें कि उसका तला बायें पैर की जाँघ को स्पर्श करे इसके पश्चात बायें पैर के अंगूठे और तर्जनी को दायीं जाँघ और पिंडली के बीच ले लें। इसी प्रकार दायें पाव के अंगूठे और तर्जनी को बायी जांघ और पिडली के बीच ले लें। सारे शरीर का भार एड़ी और सीवनी के बीच की ही नस पर तुला रहना चाहिये। इससे नाड़ी समूह में आग सी जलन होती है इसलिये नितम्बो के नीचे आठ इंच मोटी गद्दी या कपड़ा

लगा लेना चाहिये यह आसन वीर्य रक्षा के लिये अति उपयोगी है

(3) **समासन** - इसमें पहले उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपर भाग में बायें पैर की एड़ी को फिर उसके ऊपर दायें पैर की एड़ी को सिद्धासन विधि से रखते हैं। इससे कमर सीधी तनी रहती है।

(4) **पद्मासन** - चौकड़ी लगाने मे दाहिने पैर को बायें पैर की जाँघ के मूल में और बायें पैर को दाहिने पैर की जॉघ के मूल में रखने पर पद्मासन बनता है। इस आसन से शरीर निरोग रहता है। प्राणायाम की क्रियाओं में सहायता मिलती है।

(5) **वज्रासन** - दोनो जंघाओं को वज्र के समान करके दोनो पावों के तलवां को गुदा के दोनो ओर पार्श्व भाग में लगाकर घुटने के वल बैठ जाय जिससे कि घुटने के निचले भाग से पाँव की उँगलियों का भाग भूमि को स्पर्श करे।

(6) **गोमुखासन** - दाहिने पृष्ठ पार्श्व के नीचे बायें पैर की गुल्फ को और बायें पृष्ठ पार्श्व के नीचे दाहिने पैर के गुल्फ को रखकर दाहिने हाथ को सिर की ओर से और बायें हाथ को नीचे की ओर से पीठ पर ले जाकर दाहिनी तर्जनी से बायी
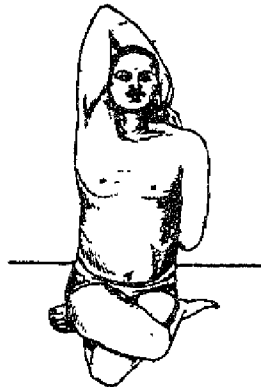
को दृढ़तापूर्वक पकडे

इसके अतिरिक्त शरीर को निरोग और स्वस्थ रखने के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के आसन बताये गये हैं। इन्हें अध्ययन की सुविधि की दृष्टि से निम्नलिखित विभागों में बांट दिया गया है। जिनका फल सहित अगले पृष्ठो में वर्णन किया गया है।

(1) खड़े होकर करने वाले आसन (2) बैठकर करने वाले आसन

(3) चित्त लेटकर करने वाले आसन (4) पेट केवल लेटकर करने वाले आसन

(1) **ताड़ासन** - गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको सम रेखा में करके सीधा खड़ा होकर एक हाथ को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलायें रक्खें। ऊपर वाले हाथ को धीरे-धीरे नीचे ले जाय और नीचे वाले हाथ को धीरे-धीरे ऊपर ले आयें। इसी प्रकार कई बार करें।

फल - सारे शरीर को निरोग रखना, मेरुदण्ड का सीधा करना शौच शुद्धि अर्श रोग का नाश करना आदि।

(2) **गरुणासन** - सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे तत्पश्चात् दोनो हाथों को भी उसी प्रकार लपेट कर हथेली मे हथेली मिलाकर दोनो हाथों को नाक के पास ले जाय।

फल - पैरों के स्नायु की शुद्धि, अण्डकोष की वृद्धि का रोकना, घुटने और कोहनियों के दर्द का नाश करना।

(3) **द्विपाद मध्य शीर्षासन** - दोनो पैरों को भरसक फैलावें, मस्तक को आगे की ओर झुकाकर, दोनो पैरों के बीच में ले जाकर पृथ्वी पर लगावें।

(4) **पाद हस्तासन** - सीधे खड़े होकर धीरे-धीरे आगे की ओर झुककर दोनो हाथों से दोनो पैरों के अंगूठे पकड़े उड्डीयान और मूलबन्ध के साथ बिना घुटने तथा

पाव झुकाये घुटने पर सिर लगा दें

फल- तिल्ली, यकृत कोष्ठबद्धता, आदि का दूर होना। देर तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होती है।

(5) **हस्तपादांगुष्ठासन** - सीधा समसूत्र में दोनो पैरों को मिलाकर खड़ा हो एक पैर को सीधा उठाकर कटि प्रदेश की जगह तक ले जाय दूसरे हाथ से इस पेर के अंगूठे को पकड़कर सीधा ताने दूसरा हाथ कमर पर रहे। इसी प्रकार दूसरी ओर करें। जब यह आसन लगभग एक मिनट तक टिकने लगे तो मस्तक को फैलाये हुए घुटने पर लगावें।
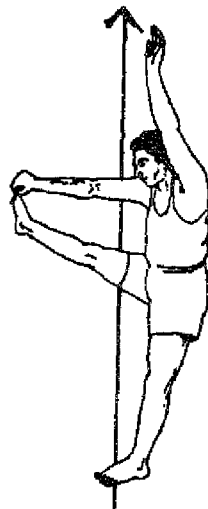
फल - पेट पीठ जंघा कमर कण्ठ आदि अवयव बलवान होते हैं।

(6) **कोणासन** - पैरों को फैलाकर समसूत्र में खड़े हों तत्पश्चात एक हाथ को सीधा रखकर दूसरे हाथ से बायीं ओर झुककर बायें पैर के घुटने को पकड़े। इसी प्रकार दूसरी ओर करें।

फल - पीठ, कमर, का निरोग होना, स्नायुओं में रक्त और खून का सचार आदि।

7. **मत्स्येन्द्रासन** - इसको पाँच भागों में विभक्त करने में सुगमता होगी।

(क) बायें पाव का पंजा दाहिने पांव के मूल में इस प्रकार रखें कि उसकी एडी टूँडी में लगे और अंगुलियाँ पाल्थी के बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बायें घुटने के पास पञ्जा भूमि पर लगाकर रखें।

(ग) बाँया हाथ दाहिने घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने

पाव का अगूठा पकडे उस दाहिने पाव के पजे को बाहर सटाकर रखें

(घ) दाहिना हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बायें पैर का पंजा पकड़ लें।

(ङ) मुख तथा छाती पीछे की ओर फिराकर ताने तथा नासाग्र में दृष्टि रखें इसी प्रकार दूसरी ओर से करें।
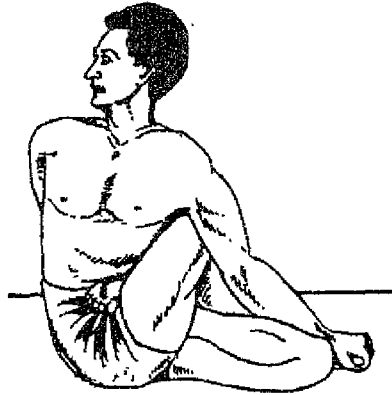
फल - पीठ, पेट केवल पाँव, गला, बाहु कमर, नाभि के निचले भाग तथा छाती के स्नायुओं का अच्छा खिंचाव होता है और पेट के सब रोग अमावत परिणाम शूल तथा आँतों के सब रोग नष्ट हो जाते हैं।

8. **वृश्चिकासन** - कोहनी से पंजे का भाग भूमि पर रखकर उसके सहारे सब शरीर को संभल कर दीवार के सहारे पाँव को ऊपर ले जाय तत्पश्चात पाँव को घुटनों में मोड़कर सिर के ऊपर रख दें। केवल पंजो के ऊपर ही सब शरीर को संभाल कर रखने से भी यह आसन किया जाता है।
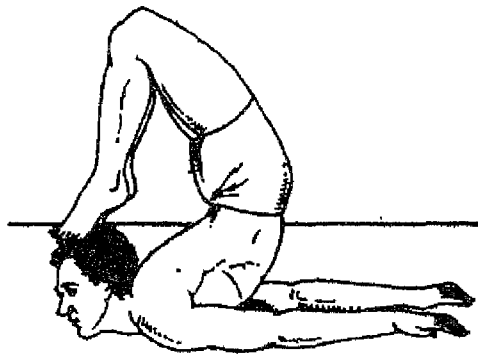
फल - हाथों और बाहों में बल वृद्धि पेट तथा आँतों का निर्दोष होना शरीर का फुर्तीला होना और हल्का होना मेरुदण्ड का शुद्ध और शक्तिशाली होना तिल्ली यकृत एवं पाण्डु रोग आदि का दूर होना।

9 **गर्भासन** कुक्कुटासन करके हार्थो की उगलियों से दानो कान पकडे फल ऑतों का विकार दूर होना शौच शुद्धि एवं क्षुधा वृद्धि।
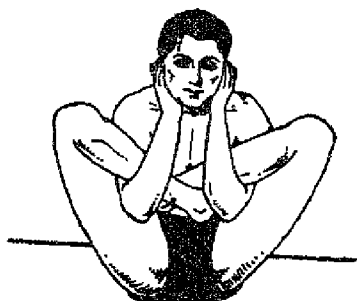
10. **कुर्मासन** - कुक्कुटामन करके दोनो हाथो को गर्दन के पीछे ले जाकर उगलियों को एक दूसरे के साथ मिलाकर पकड़े।

फल - भूख लगना और ऑतों का विकार दूर होना।

11. **मत्स्यासन** - पद्मासन लगाकर चित्त लेटे, दोनो हाथों से दोनों पाँवा के अगूठे को पकड़े और दोनों हाथों की कोहनियां जमीन पर टिका दें। सिर को पीछे मोडकर छाती तथा कमर को भरसक उठायें ।

फल - शौच शुद्धि, आँतों के सव रोगों का नाश।

12. **पदांगुष्ठ नासाग्र स्पर्शासन** - पृथ्वी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लट जाय। दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के अंगूठे को पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करें, इसी प्रकार पुनः पुनः करें। सिर वायाँ पेट और नितम्ब पृथ्वी पर जमें रहे। इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अंगूठे को नासिका के अग्रभाग से स्पर्श करें। फिर दोनो पैरों के अंगूठे को दोनो हाथों से पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करें कई दिनों के अभ्यास के पश्चात अंगूटा नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करने लगेगा। यह आसन महिलाओं के लिये भी उपयोगी है।

फल - कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कद स्थान की शुद्धि एव उदर सम्वन्धी सभी रोग दूर होते हैं।

13. **पश्चिमोत्तानासन** - दोनो पावों को उड्डीयान और मूल वंध के साथ सीधा फैलाकर दोनो हाथों से अंगूठे को पकड़कर शरीर को झुकाकर माथे को घुटने पर टिका दें। यथाशक्ति वहीं पर टिकाये रखें। प्रारम्भ में दस वीस बार सांस छोडते हुए मस्तक को घुटने तक ले जाय और साँस भरते हुए ऊपर उठाये।
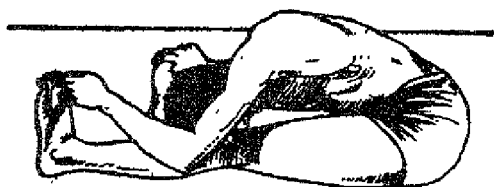
फल - पाचन शक्ति का बढ़ना, कोष्ठवद्धता दूर करना, सव स्नायु और कमर तथा पेट की नस नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना वढ़ते हुए पेट को कम करना।

14. **सम्प्रसारण भूनमनासन** - पैरों को सीधा करके यथाशक्ति चौडा फेलावें। फिर दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़कर सिर को भूमि में टिका दें।
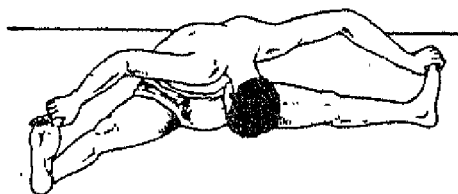
फल - इससे उरु और जंघा प्रदेश तन जाते हैं। पैर कमर पीठ और पेट निर्दोष होते हैं तथा वीर्य स्थिर होता है।

15. **जानु सिरासन** - एक पॉव को सीधा फैलाकर दूसरे पाँव की एड़ी गुदा ओर अण्डकोष के वीच मे लगाकर, उसके पादतल से फैली हुई जांघ को दबायें। मूल ओर उड्डीयान बन्ध के साथ फैले हुए पैर की दोनो उंगलियों को दोनो हाथो मे खीचकर धीरे-धीरे आगे झुककर माथे को पसारे हुए घुटने पर लगा दें। इसी प्रकार दूसरे पाँव को फैलाकर करें।
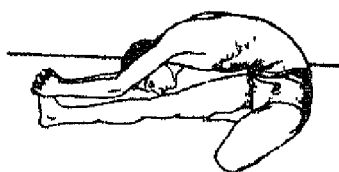
16. उष्ट्रासन वज्रासन के समान हाथों से एड़ियों का पकड़कर बैठे। पश्चात हाथों से पावों को पकड़े हुए नितम्बों को उठायें, सिर पीछे पीठ की ओर झुकावें और पेट भरसक आगे की ओर निकालें।
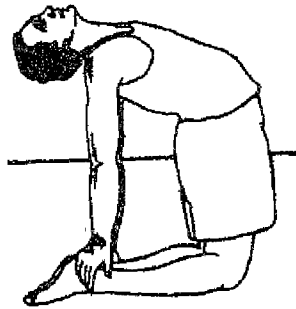
फल - यकृत प्लीहा, आमवात, आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं और कण्ठ निरोग होता है।

17. सुप्त वज्रासन - वज्रासन करके चित्त लेटे सिर को जमीन से लगा हुआ रखे पीठ के भाग को भरसक जमीन से ऊपर उठायें रखे और दोनो हाथो को बांध कर छाती के ऊपर रखें अथवा सिर के नीचे रखें।
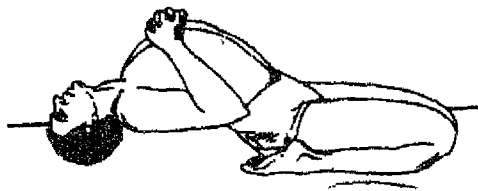
फल - पेट, छाती और गर्दन के रोग दूर करता है।

18. पार्वती आसन - दोनो पैरों के तलुए इस प्रकार मिलावे कि अंगुलियों से अंगुलियां और तलुओं से तलुआ मिल जाय और मिले हुए भागो को इस प्रकार घुमावे कि उगलियां नितम्बों के नीचे आ जाय और एड़िया अण्डकोष के नीचे मिलकर सामने दिखायी देने लगे।
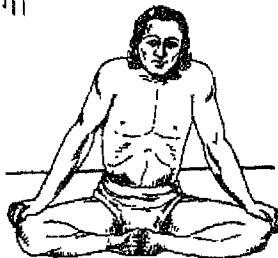
फल - घुटने, पैरों की उंगलियों, मणिबन्धों, अण्डकोषों और सीवनी के सब रोगों का नाश होता है। वीर्य वाही नसों का पवित्र होना भी बताया गया है। स्त्रियों के लिये भी यह आसन लाभदायक है।

19. **वकासन** - दोनो हाथों के पंजो को जमीन पर रखकर दोनो घुटनों को बाहुओ के सहारे ऊपर उठाकर पाँव सहित सारे शरीर को ऊपर उठावे केवल हाथों के पंजे भूमि पर रहें शेष शरीर उठाये रहे। घुटनों को अंदर रखकर भी यह आसन किया जा सकता है।
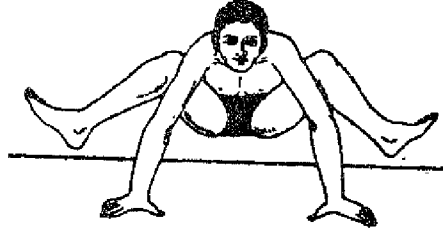
फल - भुजदण्डो में बल वृद्धि, सीने का विकास रक्त की शुद्धि और क्षुधा की वृद्धि।

20. **एक पादांगुष्ठासन** - एक पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोष के बीच में लगाकर उसी के अंगूठे को उंगलियों सहित पृथ्वी पर जमाकर दूसरे पैर को ठीक उसके घुटने पर रखकर उस पर सारे शरीर का भार संभाल कर बैठें नासाग्र भाग पर दृष्टि जमाकर छाती को किंचित उभारे रहें दायें बांये दोनो अंगो से बारी-बारी से करें।

फल - वीर्य दोष का दूर होना और वीर्य वाही नाड़ियों का शुद्ध और पुष्ट होना।

21. **उत्थित पद्मासन** - पद्मासन लगाकर दोनो हाथ दोनो ओर जमीन पर रखकर उनके ऊपर सारे शरीर को पेट के अंदर खींचे हुए और छाती को बाहर निकाले हुए भरसक पृथ्वी से ऊपर उठावें।
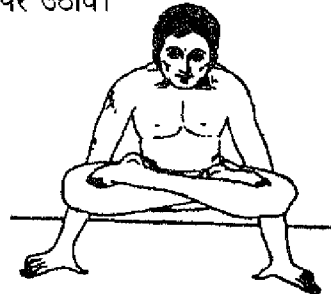
फल - बाहुबल की वृद्धि छाती का विकास पेट के रोगों का नाश और क्षुधा की वृद्धि

22. **कुक्कुटासन** - पद्मासन में बैठकर दोनो पावो के पंजे भीतर रहे, इस प्रकार दोनो जांघों और पिंडलियों के वीच से दोनो हाथ कोहनी तक नीचे निकालकर पञ्जे भूमि पर टिकाकर सारे शरीर को तोलकर रखें।

फल - उत्थित पद्मासन के समान लाभ। जठराग्नि का प्रदीप्त होना आलस्य का दूर होना।

23. **आकर्ण धनुषासन** - दोनो पांव एक साथ मिलाकर जमीन पर फैलाकर दोनो हाथों की उंगलियों से दोनो पाँव के अगूठे पकड़ लें। एक पाँव सीधा रखकर दूसरे पाँव को उठाकर उसी ओर के कान को लगावे हाथ और पैरों के हेरफेर से यह आसन चार प्रकार से किया जा सकता है।

(क) दाहिने हाथ से दायें पैर का अंगूठा पकड़कर बायें पांव का अंगूठा वाये हाथ से खींचकर वायें कान से लगाये।
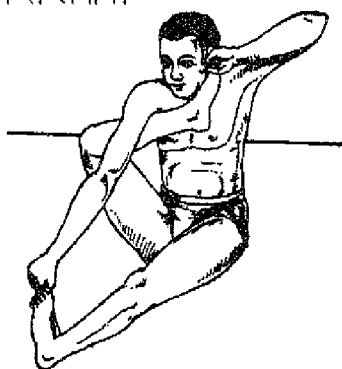
(ख) बायें हाथ से वाये पैर का अंगूठा पकड़कर दाहिने पांव का अंगूठा दाये हाथ से खींचकर दाहिने कान से लगावें।

(ग) दाहिने हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़कर उसके नीचे दाहिने पांव का अंगूठा बायें हाथ से खींचकर वायें कान को लगावें।

(घ) बायें हाथ से दाहिने पाँव का अंगूठा पकड़कर उसके नीचे बांये पांव का

अंगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दायें कान से लगावें।

फल - बाहु, घुटना, जघा, आदि अवयवों को लाभ पहुँचता है।

24. **शीर्ष पादासन** - चित्त लेटकर सिर के पृष्ठ भाग और दोनो पैरो की एड़ियों पर शरीर को कमान सदृश कर दें। इस आसन को पूरक करके करें और ठहरे हुए समय में कुम्भक बना रहे, तत्पश्चात धीरे से रेचक करना चाहिये।
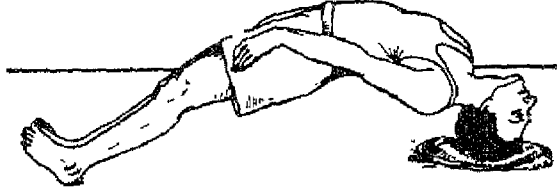
फल - मेरुदण्ड का सीधा और मृदु होना, सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों गर्दन और पैरों का मजबूत होना।

25. **हृदय स्तम्भासन** - चित्त लेटकर दोनो हाथों को सिर की ओर और दोनो पैरों को आगे की ओर फैलावें, फिर पूरक करके जालन्धर बन्ध के साथ दोनो हाथों और दोनो पैरों को छः सात इंच की ऊंचाई तक धीरे-धीरे उठावें और वहीं यथा शक्ति ठहरावें। जब श्वास निकालना चाहें तब पैरों और हाथों को भूमि पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करें।

फल - छाती हृदय फेफड़े का मजबूत और शक्तिशाली होना और पेट के सब प्रकार के रोगों का दूर होना।

26. **उत्तानपादासन** - चित्त लेटकर शरीर के सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दें, पूरक करके धीरे-धीरे दोनो पैरों को ऊपर उठावें जितनी देर आराम से रख सके रखकर पुनः धीरे-धीरे भूमि पर ले जाय और श्वास को धीरे-धीरे रेचक कर दें। प्रथम बार तीस अंश
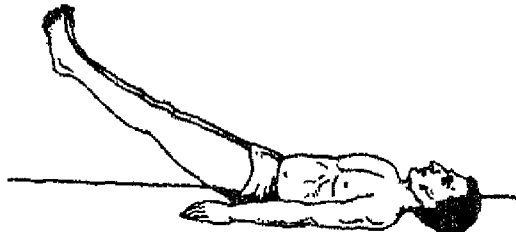
द्वितीय बार पैंतालीस अंश और तीसरी बार साठ अंश तक पैरों को उठाये।

फल - इससे नितम्ब, कमर पेट, और टांगे निर्दोष होती है, वीर्य शुद्ध पुष्ट और स्थिर होता है।

27. **हस्तपादांगुष्ठासन** - चित्त लेटकर दोनो नासिका से पूरक करके बायें हाथ कोकमर के निकट लगाये रखें, दूसरे दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़े और पूरे शरीर को भूमि पर सटाये रखें, दाहिना हाथ और पैर ऊपर की ओर उठाकर तना हुआ रखें। इसी प्रकार दाहिने हाथ को दाहिनी ओर कमर से लगाकर बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़कर पहले की भाँति करना चाहिये। फिर दोनो हाथों से दोनो पैरों के अँगूठे पकड़कर उपर्युक्त विधि से करना चाहिये।
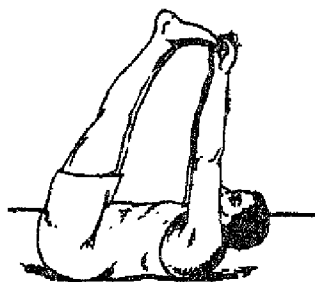
फल - सब प्रकार के पेट के रोगों का दूर होना, हाथ पैरों का रक्त संचार और बल वृद्धि

28. **पवन मुक्तासन** - चित्त लेटकर पहले एक पाँव को सीधा फैलाकर दूसरे पांव को घुटने से मोड़कर पेट पर लगाकर दोनो हाथों से अच्छी प्रकार दबायें, फिर इस पांव को सीधा करके दूसरे पाँव से भी पेट को खूब इसी प्रकार दबायें। तत्पश्चात दोनों पावों को इसी प्रकार दोनो हाथों से पेट पर दबावें।
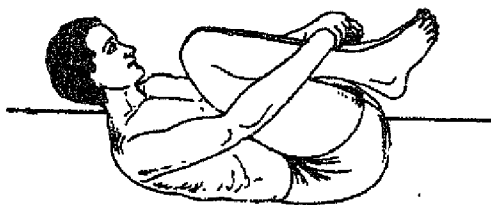
फल - उत्तानपादासन के समान लाभ है। वायु को बाहर निकालने में तथा शौच शुद्धि में विशेष लाभ है। विस्तर पर लेटकर भी किया जा सकता है, देर तक कई मिनट तक करते रहने से वास्तविक लाभ की प्रतीति होती है।

29. **उर्ध्व सर्वांगासन** - भूमि पर चित्त लेटकर दोनो पैरों को तानकर धीरे-धीरे कन्धे और सिर के सहारे पूरे शरीर को ऊपर खड़ा कर दें आरम्भ में हाथों के सहारे से उठावें, कमर और पैर सीधे रहे, दोनों पैरों के अगूठे दोनों आँखों के सामने रहें। मस्तक कमजोर होने के कारण जो शीर्षासन नही कर सकते उन्हे इस आसन से लगभग वही लाभ पहुँचता है।
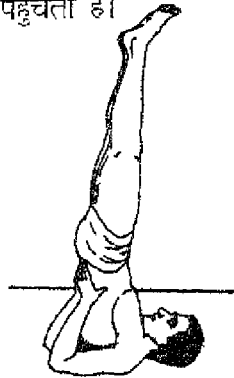
फल - रक्त शुद्धि, भूख की वृद्धि और पेट के सब विकार दूर होते हैं।

30. **हलासन** - चित्त लेटकर दोनो पावों को उठाकर सिर के पीछे भूमि पर इस प्रकार लगावे कि पाँव के अंगूठे और अंगुलियां ही भूमि को स्पर्श करें घुटनों सहित पाँव सीधे समसूत्र में रहे।
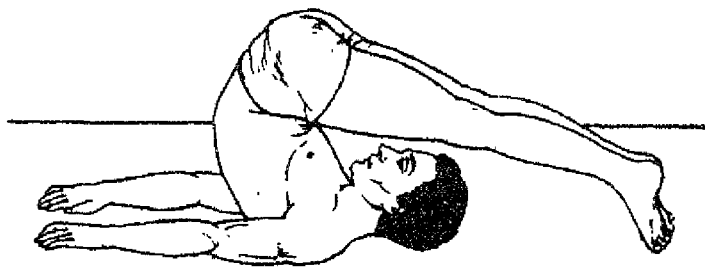
फल - कोष्ठवद्धता का दूर होना, जठराग्नि का बढ़ना, आँतों का वलवान होना, अजीर्ण प्लीहा यकृत तथा अन्य सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति और क्षुधा की वृद्धि।

31. **शवासन** - शरीर के सभी अंगों को ढीला करके शव के समान चित्त लेट जाय आसन करने के पश्चात थकान दूर करने और चित्त को विश्राम देने के लिये इस आसन को करना चाहिये

32 **मस्तक** पट के वल लेटकर सारे शरीर को मस्तक और

पैरों के अंगूठे के बल पर उठाकर कमान के सदृश शरीर को बना दें। शरीर को उठाते हुए पूरक, ठहराते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करना चाहिये।

फल - मस्तक, छाती, पैर, पेट की आंते तथा सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियां शुद्ध ओर बलवान होती हैं। पृष्ठवंश और मेरुदण्ड के लिये विशेष लाभ पहुँचता है।

33. **नाभ्यासन** - पेट के बल समसूत्र में लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर आगे की ओर फैलायें इसी प्रकार दोनो पैरों को भी फैलायें। फिर पूरक करके केवल नाभि पर समूचे शरीर को उठायें। पैर और हाथों को एक या डेढ़ फिट की ऊंचाई तक ले जाय, सिर और छाती को आगे की ओर उठाये रखें, जब श्वांस बाहर निकालना चाहे तो हाथों और पैरों को भूमि पर रखकर रेचक करें।
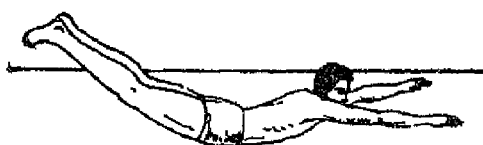
फल - नाभि की शक्ति का विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायुगोला तथा अन्य पेट के रोगों का दूर होना।

34. **मयूरासन** - दोनो हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर दोनो हाथों की कोहनियां नाभि स्थान के दोनो पार्श्व से लगाकर मूल बन्ध तथा उड्डीयान बन्ध के साथ सारे शरीर को उठायें।
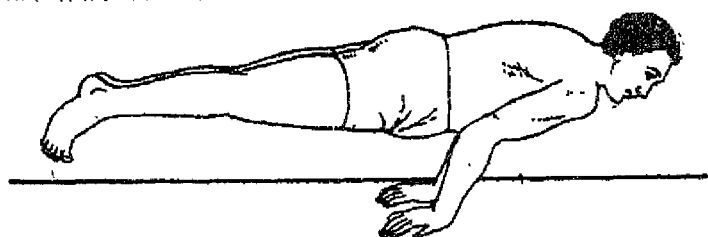
फल - जठराग्नि का प्रदीप्त होना, भूख लगना वात पित्तादि दोषों को तथा पेट के रोग गुल्म कब्ज आदि का दूर होना होता है। शरीर को निरोग और मेरुदण्ड को सीधा रखता है

35. भुजगासन - पेरो के पजे उल्टी आर भूमि से टिकाकर हाथो को भी भूमि पर किञ्चित टेढ़ा रखकर धड़ को कमर से ऊपर उठाकर भुजंगाकार होवें।
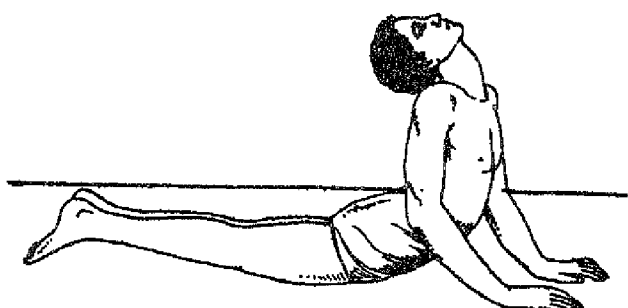
फल - जाँघ, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है पेट की आंत मजबूत होती है और सभी प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

36. शलभासन - पेट के बल लेटकर दोनो हाथों की उँगलियों की मुट्ठी बॉधकर कमर के पास लगावे, तत्पश्चात धीरे-धीरे पूरक करके छाती तथा सिर को भूमि में लगाये हुए हाथों के बल एक पैर को यथाशक्ति एक-डेढ़ फिट की ऊँचाई तक ले जाकर ठहरायें, ॱब श्वास निकालना चाहें तब धीरे-धीरे पैर को भूमि पर रखकर रेचक करें। इसी प्रकार दूसरे पैर को उठायें। फिर दोनो पैरों को उठायें।
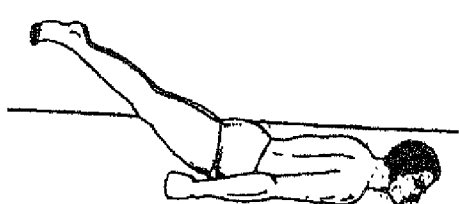
फल - जांघ, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है, पेट की आंते मजबूत होती है और सब प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

37. धनुरासन - पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनो पैरों को पकड़ लें और शरीर को वक्रभाव से रखें। अथवा वज्रासन की भाँति एडियों पर बैठकर पीछे की ओर झुककर करना बताया गया है।
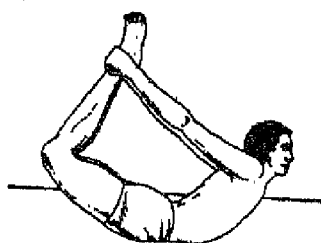
फल - कोष्ठबद्ध आदि उदर के सब विकारों का दूर होना, भूख तथा जठराग्नि का प्रदीप्त होना।

लगभग सभी आसन मुद्रायें और प्राणायाम मूल बन्ध और उड्डीयान बंध के साथ किये जाते हैं। कहीं कहीं जालन्धर बंध की भी आवश्यकता पड़ती है।

बन्ध

मूलबन्ध - गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बंद करने का नाम मूल बंध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनि स्थान अर्थात गुदा और लिंग एवं कंद के बीच के भाग को दृढतापूर्वक संकोचन द्वारा नीचे की ओर गति करने वाली अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर खींचने को मूल बंध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बंध अच्छा लगता है। कोष्ठवद्ध दूर करने जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को स्थिर बनाने मे यह बन्ध अति उत्तम है।

उड्डीयान बन्ध - दोनो जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर मिलाकर पेट के नाभि प्रदेश के हिस्से के बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड से ऐसा लगा दें कि पेट के स्थान पर गड्ढा दिखने लगे। जितना पेट को अंदर खींचा जायेगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्णा नाड़ी की ओर उड़ने लगता हे, इसलिये इस वन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है

फल - प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि जठराग्नि का प्रदीप्त होना और फेफड़े का शक्तिशाली होनां

जालन्धर बन्ध - कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कण्ठ कूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय और ठोढ़ी का अंतर केवल चार अंगुल का रहे। सीना आगे की ओर तना रहे। यह वन्ध कण्ठ स्थान के नाड़ी जाल समूह को बाधे रखता है इसलिये इसका नाम जालन्धर बंध रखा गया है।

फल - कण्ठ का सुरीला मधुर और आकर्षक होना बताया गया है।

प्राणायाम - आसन के स्थिर होने पर श्वास प्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम है। बाहर की वायु का नासिका द्वारा अंदर प्रवेश करना श्वास कहलाता हे। कोष्ठ स्थित वायु का नासिका द्वारा बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। इस स्वाभाविक श्वास प्रश्वास की गति के वशीकरण से शरीर के भीतर प्राण की समस्त सूक्ष्म गतियों का वशीकार हो सकता है और विभिन्न प्रकार की अद्‌भुत शक्तियां

प्राप्त होती है इन दोनो गतिया को नियम पूर्वक रोक देने से आयु बढती है शरीर स्वस्थ रहता हे मन की चञ्चलता दूर हांती हे. याग का अतिम लक्ष्य चित्त की वृत्तियो का रोकना है इसलिये प्राणायाम को योग का चौथा अंग मानकर उसका लक्षण श्वास प्रश्वास की गति को रोकना किया गया है। तीन नियमित क्रियाओं से इस गति का निरोध किया जाता है इसलिये प्राणायाम के तीन भेद है - पूरक, रेचक और कुम्भक

(1) **पूरक** - पूरक द्वारा श्वास को नाभि, मूलाधार आदि आभ्यांतर प्रदेशो तक ले जाकर उसकी गति का अभाव किया जाता है। इस प्रकार पूरक द्वारा श्वास की गति रोक देने को पूरक सहित कुम्भक अथवा अभ्यान्तर कुम्भक कहलाती हे।

(2) **रेचक** - रेचक द्वारा प्रश्वास को नासिका से बाहर निकालकर उसकी गति को रोक दिया जाता है। इस प्रकार की प्रश्वास की गति को रोक देने को रेचक सहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहते हैं।

(3) **कुम्भक** - बिना पूरक रेचक किये हुए श्वास प्रश्वास दोनों की गतियों को कुम्भक द्वारा एकदम जहॉ का तहाँ रोक दिया जाता है।

(4) **चतुर्थ प्राणायाम** - केवल रेचक द्वारा जहाँ तक जा सकें श्वास को बाहर ले जाय बिना रोके हुए वहां से पूरक द्वारा जहाँ तक जा सके अंदर ले जाय इस प्रकार कई वार विना कुम्भक किये केवल रेचक पूरक देर तक करते रहने से दोनो श्वास ओर प्रश्वास की गतियों का स्वयं अभाव हो जाता है।

सूर्यभेदी नमस्कार

कुछ प्रमुख आसनो का एक निश्चित क्रम में रखकर आसनों की एक श्रृंखला बनायी गयी हे इसे सूर्यभेदी व्यायाम या सूर्य नमस्कार कहते हैं। इन आसनों के करने से शरीर के सव अंगो का संचालन हो जाता है और स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है। इनका क्रम निम्नवत है।

(1) **नमस्कार आसन** - सीधे खडे होकर पाँव नितम्ब, पीठ गला और सिर समसूत्र में रखकर दोनो हाथ जोड़कर नमस्कार करना।

(2) **उर्ध्व नमस्कार आसन** दोनो हाथो को सीधे ऊपर ल जाकर उर्ध्व दिशा मे हाथ जोड़कर नमस्कार करना. इसमे पेट को यथा सभव आगे की ओर बढ़ाकर हाथो को जितना हो सके उतना पीछे हटाना होता है।

(3) **हस्त पादासन** - हाथों को ऊपर से नीचे लाकर दोनो पांवो के दोनो ओर भूमि पर रख दें घुटने सीधे रहें और पेट अंदर आकर्षित रहे।

(4) **एक पाद प्रसणासन** - एक पाँव जितना हो सके पीछे ले जाकर सीधा फैलाना हाथ जहाँ थे वहीं रहें।

(5) **द्विपाद** दूसरे पाव का भी पीछे ले जाकर सीध फैलना इसम भूमि मे पाव के साथ पाव और हाथ के साथ हाथ रखना होता है

(6) **भूधरासन** - पाँव जितना पीछे ले जाये परन्तु घुटने सीधे रहना चाहिये और पाँव के तलवे जमीन को पूरे लगने चाहिये। कोहनी के साथ हाथ सीधे रखने चाहिये ठोड़ी कण्ठ कूप से लगनी चाहिये और पेट अन्दर आकर्षित होना चाहिये।

(7) **अष्टांग प्रणिपातासन** - दोनो पाँव, दोनो घुटने, दोनो हाथ, छाती और मस्तक भूमि पर स्पर्श करना चाहिये पेट भूमि को न लगना चाहिये। पेट को बल के साथ अन्दर खींचना चाहिये।

(8) **सर्पासन** - सर्प के समान इस आसन में सिर जितना पीछे ले जाय और छाती जितनी बढ़ सके बढ़ाये। हाथ और पॉव ही भूमि को स्पर्श करें, शेष शरीर भूमि से कुछ अन्तर पर रहे।
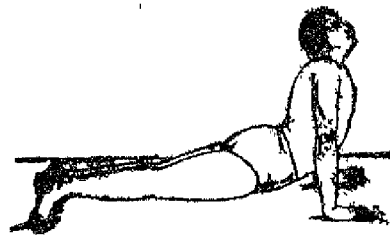
(9) **भूधरासन** क्रम सख्या 6 की तरह

(10) **द्विपाद प्रसरणासन** - क्रम संख्या 5 की तरह से।

(11) **एक पाद प्रसरणासन** - क्रम संख्या 4 की तरह से।

(12) **हस्त पादासन** - क्रम संख्या 3 की तरह से।

(13) **उपवेशासन** - हस्त पादासन में हाथ और पैर को अपने स्थान में रखते हुए सरल रीति से बैठ जाय।

पुनः क्रम संख्या एक से उपरोक्त क्रमों को तेरह बार करें।

□□

से ही बनी है इन्ही तीना गुणा क सस्थान भद से वस्तुआ मे भेद है इनम सत्व का स्वरूप है प्रकाश और हल्कापन तमस् का धम है अवराध, गौरव आवरण आदि और रजस का धर्म है चल अर्थात् सतत् क्रियाशील रहना। ये सत्व रजस ओर तमस् गुण कहलाते हैं। ये अपने धर्म या स्वरूप से पृथक कभी नहीं होते अर्थात् रजोगुण के रहने के कारण प्रत्येक वस्तु क्रियाशील रहती है। इसी रजस् के कारण प्रतिक्षण मे तत्व का एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को स्वीकार करना परिणाम होता रहता है। रजोगुण सभी वस्तुओं में रहता ही है अतएव स्वभाव ही से प्रत्यक वस्तु परिणामशील है। चेतन को छोड़कर परिणाम शून्य कोई भी वस्तु नही है।

ये तीनो गुण आपस में एक दूसरे को अभिभूल करते हैं। कभी रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर 'सत्व' प्रीति तथा प्रकाश रूप अपने धर्मों से प्रधान रूप मे अभिव्यक्त होता है। कभी सत्व गुण तथा तमोगुण को अभिभूल कर 'रजोगुण अप्रीति तथा प्रवृत्ति रूप अपने धर्मो से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है। कभी सत्व तथा रजस् को अभिभूत कर तमोगुण विषाद एवं स्थिति रूप अपने धर्मो से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है। ये गुण अपने म्वरूप को अभिव्यक्त करने में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

ये गुण आपस में मिलकर एक दूसरे को सहायता देकर कार्य को उत्पन्न करते है, अर्थात इनमें जो परस्पर सहायता देने का स्वभाव है, वही परिणामरूप में कार्य को अभिव्यक्त करता है। ये तीनो गुण परस्पर मिलकर ही रहते है। कभी कोई भी एक दूसरे से पृथक होकर नहीं रहते। इनमें अविना भाव सम्बन्ध है। अतएव इस जगत में शुद्ध सात्विक या शुद्ध राजसिक या शुद्ध तामसिक कोई भी वस्तु नही है।

परिणाम के भेद - धर्म लक्षण और अवस्था के भेद से परिणाम तीन प्रकार का है।

(1) **धर्म-परिणाम** - धर्म के अभिभव तथा प्रादुर्भाव से धर्मों में जो परिणाम होता है उसे धर्म परिणाम कहते हैं जैसे मिट्टी का घट आदि धर्म-परिणाम है।

(2) **लक्षण-परिणाम** - धर्मों के भूत, वर्तमान, तथा भविष्य रूप को लक्षण परिणाम कहते हैं। इसमें समय के परिवर्तन का वैलक्षण्य है।

(3) **अवस्था परिणाम** - विद्यमान वस्तु में अवस्था के कारण वैलक्षण्य होना अवस्था- परिणाम है। जैसे शिशुत्व, बाल्य, कौमार वार्धक्य आदि अवस्था परिणाम है।

ये परिणाम प्रतिक्षण जड़ वस्तुओं में होते रहते हैं और ये इतने सूक्ष्म है कि शब्दों द्वारा इनका वर्णन करना संभव नही होता। इस परिणाम के स्रोतों में अंधकार

के गर्त मे छिपा हुआ अनागत वर्तमान हो जाता है और फिर भूत होकर अव्यक्त रूप म विलीन हो जाता है यह प्रक्रिया अनादि और अनन्त है इसका कभी विराम नही होता। इसी अव्यक्तावस्था को मूला प्रकृति कहते हैं। अनागत का अव्यक्त अवस्था से व्यक्त में अर्थात वर्तमान रूप में आ जाना अर्थात मूला प्रकृति से महत्, अहकार आदि का व्यक्त होना विसदृश परिणाम है तथा व्यक्त से पुनः भूत अवस्था मे अर्थात अव्यक्त रूप में हो जाना सदृश परिणाम है। उपर्युक्त तीनो परिणाम मे तत्त्व अव्यक्त से व्यक्त और पुनः व्यक्त से अव्यक्त सदैव होता रहता है।

मूला प्रकृति, सत्त्व, रजस् तथा तमस इन तीनो गुणो की साम्यावस्था है। उसके गर्भ में रजस् है जिसका स्वभाव है कि एक क्षण के लिये भी वह स्थिर न रहे प्रत्युत सतत् चलशील ही रहे। इसी चल-रजस् के कारण प्रकृति में परिणाम होता ही रहता हे। अतएव प्रकृति स्वतः परिणामिनी कही जाती है। अव्यक्तावस्था में सत्व सत्त्व रूप मे रजस् रजोरूप में तथा तमस् तमो रूप में परिणत होते ही रहते हैं। इसमें कोई वैषम्य उत्पन्न नही होता। साम्यवास्था में रजोगुण की क्रियाशीलता तमोगुण से अवरुद्ध होती है। पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मो का फल रूप अदृष्ट तो जीवों के साथ रहता ही है। वे अदृष्ट जब पाकोन्मुख होते है तव उस तमोगुण का प्रभाव हट जाता है ओर प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है। प्रकृति का अवरोध हट जाता हैं और रजोगुण के रहने के कारण स्वत' परिणामिनी वह मूला प्रकृति अव्यक्त रूपों को महत् (बुद्धि), अहकार आदि व्यक्त तत्वों के रूप में प्रकाशित करती है।

प्रकृति के सात्विक अंश से महत् तत्त्व जिसे बुद्धि तत्त्व भी कहते हैं की अभिव्यक्ति होती है इसलिये महत् को प्रकृति की विकृति भी कहते हैं। महत् में भी सत्व, रजस् और तमस् हैं किन्तु इसमें सत्त्व का प्राधान्य है अतएव सत्त्व के धर्म प्रकाश और लघुत्व बुद्धि में हैं।

बुद्धितत्त्व - किसी कार्य के करने में जो निश्चय किया जाता है कि यह कार्य हम अवश्य करेंगे, वह बुद्धि का स्वरूप है। रजोगुण के कारण वुद्धि भी चल हे अतएव इसका भी परिणाम होता है। उस समय विकृति होते हुए भी वुद्धि प्रकृति होकर अहंकार को उत्पन्न करती है। अतएव यह बुद्धि प्रकृति विकृति है। इसके दो प्रकार के रूप होते हैं - सात्विक, जैसे- धर्म, ज्ञान, वैराग्य, तथा ऐश्वर्य एवं तामसिक जैसे अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य। जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन बुद्धि है और यही बुद्धि पुनः प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को भी अभिव्यक्त करती है, अर्थात बुद्धि ही के द्वारा भोग तथा मुक्ति भी होती है। वुद्धि के ये धर्म भाव भी कहलाते हैं।

अहकार बुद्धि मे भी सत्व, रजस् ओर तमस् ये तीनो गुण है, सत्व प्रधान है अन्य गुण गौण है। प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण बुद्धि तत्व से परिणाम के द्वारा अहकार तत्व बन जाता है। बुद्धि तत्व में रहने वाले रजोगुण से अहंकार उत्पन्न होता है। इसमें रजोगुण का प्राधान्य हैं यह अभिमानात्मक है अर्थात मैं मुझे आदि जो अपने मे अभिमान होता है वह अहंकार का स्वरूप है।

अहंकार तत्व में भी तीनो गुण विद्यमान हैं। अहंकार बुद्धि की विकृति है, परन्तु इससे जब दूसरा तत्व उत्पन्न होता है, उस समय अहंकार भी प्रकृति का धर्म धारण कर लेता है। अतएव अहंकार भी प्रकृति विकृति है।

अहंकार का स्वरूप अभिमानात्मक है। इसमें भी तीनो गुणों के मिलने के कारण इसके तीन रूप हैं - वैकृत जिसमें सात्विक गुण विशेष हैं, इससे ग्यारह इन्द्रियो की अभिव्यक्त होती है। भूतादि, जिसमें तमोगुण का वैशिष्ट्य है इससे पॉच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है। तैजस् में रजोगुण की विशेषता है। तैजस् रूप अहकार के सात्विक तथा तामस् दोनो अंशों को अपने-अपने कार्य करने में सहायता देता है।

इन्द्रियां - इन अंशों से युक्त अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की अर्थात् मनस् पॉच ज्ञानेन्द्रियों की तथा पाँच कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु इन्ही गुणो के अवान्तर तारतम्य से इन ग्यारहों में भी अंतर है। ये ग्यारह केवल विकृति हैं। ये कभी भी प्रकृति का रूप धारण नहीं करती। इनसे कोई अन्य तत्व अभिव्यक्त नहीं होता।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां या बुद्धीन्द्रियां हैं। इनके विषय क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध रस तथा स्पर्श हैं।

ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों के प्रति 'आलोचनात्मक' अर्थात द्वाररूप मे सामर्थ्य प्रदर्शन मात्र वृत्ति है। वाक्, पाणि, पाद पायु तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियॉ है। इनके विषय क्रमशः वाचन आदान, विहरण, उत्सर्ग तथा लौकिक आनन्द हैं।

इनमें से ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने के समय 'मन' ज्ञानेन्द्रिय के समान रूप का तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय के स्वरूप का हो जाता है। इसलिये इसे उभयात्मक कहा जाता है। यह तीनो प्रकार की इन्द्रियों की सहायता करता है। किसी कार्य को करने के समय में मन में किया जाय या न किया जाय इस प्रकार जो संकल्प विकल्प होता है वह मन का धर्म है।

इसे अन्तरिन्द्रिय कहते हैं सुख दुःख इच्छा द्वेष आदि आत्मा के गुणों का ज्ञान मन के द्वारा होता है। मन अणु परिमाण का है। अतएव एक समय में यह मन एक

ही स्थान पर रहता है। आत्मा तथा इन्द्रिय के साथ विना मन का सम्वन्ध हुए ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। अतएव एक साथ एक ही ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होता है। मन नित्य है। एक शरीर में एक ही मन रहता है। मरने के समय यह शरीर से वाहर निकल जाता है जिसे अपसर्मण कहते हैं। वस्तुतः मन के निकलने ही को मरण कहते हैं। दूसरे शरीर में वही मन प्रवेश करता है जिसे अपसर्मण कर्म कहते है।

तन्मात्रायें - अहंकार के तामस अंश से शव्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रस तन्मात्रा तथा गंधतन्मात्रा ये पाँच तन्मात्रायें अभिव्यक्त होती है। ये सभी तामसिक स्वरूप के हैं। तन्मात्र शव्द का अर्थ है वही। शव्द के आगे 'मात्र' शव्द लगाने का अभिप्राय है उस शव्द के अर्थ को सीमित करना। अर्थात 'शव्द तन्मात्र' का अर्थ है - 'शव्द ही' और कुछ भी नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि शव्द, स्पर्श रूप रस और गंध ये पॉचो धर्म अपने शुद्ध रूप में पृथक-पृथक अहंकार से अभिव्यक्त होते हैं। इनमें परस्पर कोई भी सम्वन्ध नही। अहंकार से ये पाँच स्थूल तत्व उत्पन्न होते हैं। परन्तु ये फिर भी स्वयं अविशेप अर्थात सूक्ष्म ही हैं। ये अहंकार से उत्पन्न होने के कारण स्वयं विकृति हैं। परन्तु आकाश आदि स्थूल तत्वों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति भी हैं। इसलिये ये पॉच प्रकृति विकृति हैं।

पंचभूत - शव्द तन्मात्रा आदि पाँच पृथक-पृथक अहंकार से उत्पन्न हुए है। इस परिणाम की प्रक्रिया में यद्यपि ये पाँच अहंकार से उत्पन्न हुए हैं, अहंकार का तामस रूप इन पॉचों मे समान रूप से पृथक-पृथक वर्तमान है, फिर भी ये परस्पर मिले हुए नही है। अतएव इनसे जो आगे सृष्टि होती है वह स्वतन्त्र रूप से पृथक-पृथक होती है। अर्थात् शव्द तन्मत्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा से वायु रूप तन्मात्रा से तेजस्, रस तन्मात्रा से जल तथा गंध तन्मात्रा से पृथ्वी पृथक-पृथक अभिव्यक्त होती है। यही पाँच भूतो की सृष्टि है। ये भूत स्थूलतम् पदार्थ है। अतएव इन्हें विशेष अर्थात स्थूल कहा गया है। इस प्रकार ये पाँचों भूत क्रमशः पृथक-पृथक रूप मे पाँच तन्मात्राओं से अभिव्यक्त हुए हैं। अतः इनमें क्रमशः पृथक-पृथक पॉच तन्मात्राये भी हैं। अर्थात्

आकाश = आकाश तत्व + शव्द तन्मात्रा अर्थात शव्द।

वायु = वायु तत्व + स्पर्श तन्मात्रा अर्थात स्पर्श।

तेजस् = तेजस् तत्व + रूप तन्मात्रा अर्थात रूप।

जल = जल तत्व + रसतन्मात्रा अर्थात रस।

पृथ्वी = पृथ्वी तत्व + गंध तन्मात्रा अर्थात गंध।

व्यक्त के धर्म - मूला प्रकृति से क्रम स उत्पन्न ये तेइस तत्त्व प्रकृति के व्यक्त कहलाते हैं। इनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। ये सभी अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं और ये अनित्य, अव्यापक, क्रियाशील तथा अनेक हैं। इनमें प्रत्येक मे तीन गुण हैं। वे ही गुण सस्थान भद से नाना रूप को अभिव्यक्त करते हैं। इन गुणों में आपस में आश्रितत्त्व है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्त अपने-अपने कारण मे आश्रित है। ये लिंग हैं अर्थात लय के समय में प्रत्येक व्यक्त अपने-अपने कारण मे लय को प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्त अपने अस्तित्व के लिये अपने कारण पर निर्भर हैं। अतएव यह परतंत्र है।

प्रत्येक व्यक्त में तीन गुण हैं जो अभिव्यक्त रूप में हमें देख पड़ते हैं। इन गुणों का वैषम्य रूप व्यक्तों में है। अतएव सभी व्यक्त 'सावयव' हैं। व्यक्त जड प्रकृति के कार्य हैं इसलिये ये भी दूसरों से स्वयं पृथक नही कर सकते। ये विषय हे अर्थात ज्ञान से भिन्न और सबके भोग की वस्तु है। ये सामान्य हैं अर्थात सकल साधारण व्यक्तियों के लिये हैं।

अव्यक्त के धर्म - सत्त्व रजस तथा तमस् इन तीनो गुणों की साम्यावस्था 'मूला प्रकृति' कहलाती है। यह अतिसूक्ष्म होने के कारण परोक्ष है। बुद्धि के द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। यह अनुमान से सिद्ध होता है। महत्त्व आदि इसके कार्य हे। प्रकृति का कोई कारण नही है, यह नित्य है, व्यापक है तथा निष्क्रिय है। यद्यपि प्रकृति के गर्भ में रजोगुण के रहने के कारण इसमें भी क्रियाशीलता है. परिणाम होता ही रहता है, किन्तु वह परिणाम साम्यावस्था के रूप में ही रहता है। वहाँ वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। अतएव क्रिया अभिव्यक्त नहीं होती, इसलिये मूला प्रकृति को निष्क्रिय कहा गया है। यह एक ही है। यह अनाश्रित है। इसका लय नहीं होता। यह निरवयव है। यद्यपि सत्व रजस तथा तमस रूप 'अवयव' प्रकृति में भी है किन्तु वे विषम रूप में नहीं है। अतएव प्रकट रूप में प्रकृति में उनका एक प्रकार से न होना ही कहा जाता है। इसलिये यह निरवयव है। प्रधान स्वतंत्र है क्योंकि यह नित्य है। इन धर्मो के कारण अव्यक्त व्यक्त से भिन्न है।

भूतों की सृष्टि - सत्व, रजस् तथा तमस् ये गुण सतत् परिणामी हैं, सतत् एक से नही रहते। इसलिये जब तमोगुण का प्राधान्य होता है, तब उसी विक्षेप शक्ति से सम्पन्न अज्ञानो पहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की क्रमशः उत्पत्ति होती है। इन उत्पन्न भूतो से सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनो गुण अपने-अपने कारण से अपने-अपने कार्य में आ जाते हें। इन्हीं पॉच भूतो को सूक्ष्म भूत या तन्मात्रायें या अपञ्चीकृत भूत कहते हैं। इन्ही

से क्रमशः सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति - आकाश आदि, प्रत्येक भूतों में भी तीनो गुण हैं। जब इनमें पृथक्-पृथक् सात्विक अंश का प्राधान्य होता है, तब पृथक्-पृथक् व्यष्टि रूप में आकाश के सात्विक अंश से श्रोत्र इन्द्रिय वायु के सात्विक अंश से त्वग् इन्द्रिय तेजस् के सात्विक अश से चक्षु इन्द्रिय, जल के सात्विक अंश से रसना इन्द्रिय तथा पृथ्वी के सात्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इनके द्वारा क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस तथा गंध का ज्ञान होता है।

अंतःकरणों की उत्पत्ति - आकाश आदि पाँचो भूतों के समष्टि सात्विक अशो से निश्चयात्मिका अंतःकरण की 'बुद्धि' नाम की वृत्ति : संकल्प विकल्पात्मिका अतःकरण की 'मन' नाम की वृत्ति : अनुसंधानात्मिका अंतःकरण की 'चित्त' नाम की वृत्ति, तथा अभिमानात्मिका 'अंतःकरण की 'अहंकार' नाम की वृत्ति उत्पन्न होती है। ये वृत्तियां प्रकाश स्वरूप हैं।

इनके उत्पन्न होने के पश्चात बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन से कोष के समान एक कार्य वस्तु शरीर में उत्पन्न होती है उसे विज्ञानमय कोष कहते हैं।

जीव - विज्ञानमय कोष से घिरा हुआ चैतन्य जीव कहा जाता है। यही इस लाक से परलोक में जाता है। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि आना जाना आदि क्रिया चेतन्य में नहीं होती। चैतन्य तो व्यापक तथा निष्क्रिय है। यह विभु होने के कारण सर्वत्र रहता ही है। वस्तुतः विज्ञानमय कोप ही चैतन्य की सहायता से इस लोक तथा परलोक में जाता और आता है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को पाकर विज्ञानमय कोष मे क्रिया उत्पन्न होती है। यही जीव, कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी है। यही इस संसार मे रहकर भोग करता है। इसी के जन्म और मरण होते हैं। यही बद्ध है इसी की मुक्ति होती है।

मनोमय कोष - ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर 'मन' शरीर के अंदर एक कोप के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को घेर लेता है। उसे मनोमय कोष कहते हैं। यह कोष विज्ञान मय कोप की अपेक्षा अधिक जड़ होता है। इसमें प्रधानरूप से संकल्प विकल्प वृत्ति होती है।

कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति - आकाश आदि भूतों के रजस अंश से पृथक्-पृथक् व्यष्टि रूप में क्रम से कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती है। अर्थात रजोगुण प्रधान आकाश मे वाग् इन्द्रिय, रजोगुण प्रधान वायु से हाथ ; रजोगुण प्रधान अग्नि से पैर, रजोगुण प्रधानजल से वायु-इन्द्रिय तथा रजोगुण प्रधान पृथ्वी से उपस्थ-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

पाँच प्राणों की उत्पत्ति - आकाश आदि भूतो के मिलित रूप में रजस् अंश ने ऊपर की तरफ चलने वाला नासिका के अग्रभाग में रहने वाला 'प्राण' नीचे की तरफ जाने वाला वायु आदि स्थान में रहने वाला 'अपान' ; चतुर्दिक्ष चलने वाला समस्त शरीर में रहने वाला 'व्यान', कण्ठ में हरने वाला उर्ध्वगमनशील बाहर निकल जाने वाला 'उदान' तथा खाये पिये पदार्थों को समुचित परिपाक कर रस, रुधिर आदि धातुओं में परिणत करने वाला 'समान' नाम का प्राण उत्पन्न होता है।

प्राणमय कोष - पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ उपर्युक्त ये पाँच वायु मिलकर एक कोष के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को कोष की तरह आच्छादित किये हैं इसी को प्राणमय कोष कहते हैं।

ये कोष हमारे शरीर के भीतर भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं जैसे 'विज्ञानमय कोष' ज्ञान शक्तिमान होकर कर्ता का कार्य करता है। इसमें ज्ञान शक्ति प्रधान है। मनोमय कोष में 'इच्छा शक्ति' प्रधान है। यह करण का कार्य करता है। प्राणमय कोष मे क्रियाशक्ति का प्राधान्य है। यह कार्य रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है।

सूक्ष्म शरीर - इन तीनो कोषो को मिलने से एक 'सूक्ष्म शरीर' बन जाता है। इसमें सत्रह अग होते हैं - पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां पाँच वायु तथा बुद्धि ओर मन। इसी शरीर में ज्ञान शक्ति इच्छा शक्ति तथा क्रिया शक्ति ये तीनो शक्तियां रहती हैं और अपने-अपने अनुरूप कार्य करती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा यह सूक्ष्म है। वासनायें इसमें प्रवुद्ध रहती हैं इसलिये यह स्वप्न के समान है। इसमे स्थूल शरीर का लय हो जाता है।

पञ्चीकरण - अपञ्चीकृत भूतों का स्वरूप सूक्ष्म है। इससे पुनः विकसित होकर जड़ प्रकृति स्थूल स्वरूप को प्राप्त करती है। यह अवस्था पञ्चीकृत की अवस्था है। भूतो के पञ्चीकरण की प्रक्रिया नीचे दी जा रही है।

पॉच भूतों में प्रत्येक को दो समान भागों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार दस भाग होते हैं। उनमें से प्रत्येक के प्रथम भाग को चार समान भागो में विभाग कर, प्रत्येक भाग में अपने से इतर चार भूतों के चार भागों को एक-एक में मिला देने से आधा में तो चार भूत होंगे और आधा में वह भूत स्वयं रहेगा। इस प्रकार पुनः इनके संघटन से पॉच-पाँच का एक-एक संघात हो जाता है। ये ही पञ्चीकृत भूत है। इन्हें निम्नवत समझा जा सकता है।
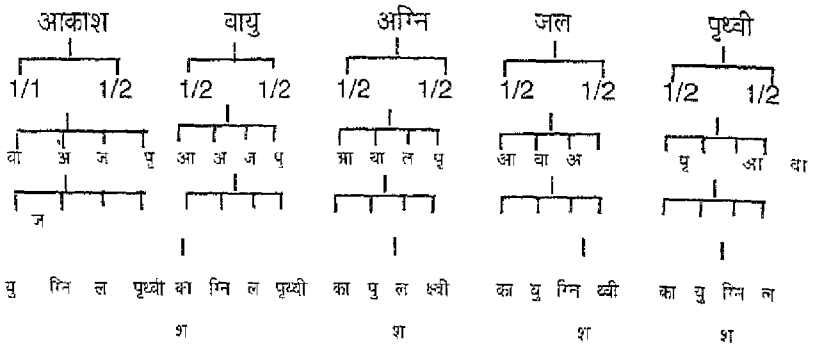
1/8 (वायु + अग्नि + जल + पृथ्वी) + 1/2 आकाश = पञ्चीकृत स्थूल आकाश।
1/8 (आकाश + अग्नि + जल + पृथ्वी) + 1/2 वायु = पञ्चीकृत स्थूल वायु।
1/8 (आकाश + वायु + जल + पृथ्वी) + 1/2 अग्नि = पञ्चीकृत स्थूल अग्नि।
1/8 (आकाश + वायु + अग्नि + पृथ्वी) + 1/2 जल = पञ्चीकृत स्थूल जल।
1/8 (आकाश + वायु + अग्नि + जल) + 1/2 पृथ्वी = पञ्चीकृत स्थूल पृथ्वी।

इस प्रकार पञ्चीकृत स्थूल भूतों में क्रमशः आकाश मे शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप, जल मे शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श रूप रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं पञ्चीकृत भूतो से क्रमश. स्थूल स्थूलतर तथा स्थूलतम कार्यों की अभिव्यक्ति होती है, जिससे ब्रह्माण्ड की तथा उसमें रहने वाले चार प्रकार के शरीरो की एवं उनके भोजनादि के योग्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है।

स्थूल शरीर - स्थूल शरीर चार प्रकार के होते हैं उनमें जो जरायु से उत्पन्न हों वे जरायुज कहे जाते हैं जैसे मनुष्य पशु आदि। जो अण्डों से उत्पन्न हों वे अण्डज हैं जैसे पक्षी पन्नग आदि। जो स्वेद 'गर्मी' धर्म आदि से निकलें वे स्वेदज कहे जाते हैं जैसे विषाणु जीवाणु आदि जो पृथ्वी को फोड़कर निकलें उन्हें उद्भिज कहते हैं जैसे वृक्ष लता आदि।

चित्त

योग ज्ञान का ही क्रियात्मक रूप है। योग सारे सम्प्रदायों और मत मतान्तरों के पक्षपात और वाद विवाद से रहित सार्वभौम धर्म है जो तत्व का ज्ञान स्वयं अनुभव द्वारा करना सिखलाता है और मनुष्य को उसके अंतिम ध्येय तक पहुँचाता है। मोटे तौर पर योग स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना अर्थात बर्हिमुख से अंतर्मुख होना है। चित्त (बुद्धि) की वृत्तियां द्वारा हम स्थूलता की ओर जाते हैं अर्थात बहिर्मुख होते है। आत्मतत्व से प्रकाशित चित्त अहंकार रूप वृत्ति द्वारा अहंकार इन्द्रियों और तन्मात्राओं रूप वृत्ति द्वारा तन्मात्रायें सूक्ष्म और स्थूल भूत और इन्द्रियां विषयो की वृत्तियों द्वारा वहिर्मुख हो रही हैं। जितनी वृत्तियां बहिर्मुख होती जायेगी उतनी ही उनमें रज और तम की मात्रा बढ़ती जायेगी और उससे उल्टा जितनी वृत्तियां अंतर्मुख होती जायेगी उतना ही रज और तम के तिरोभाव पूर्वक सत्व का प्रकाश बढता जायेगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्म-स्वरूप शेष रह जाता है।

चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है। अर्थात जो चित्त की वृत्तियां बाहर की ओर जाती हैं उन बहिर्मुख वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर उससे उल्टा अर्थात अंतर्मुख करके अपने कारण चित्त में लीन कर देना योग है। ऐसा निरोध सब चित्त की भूमियों में सब प्राणियों का धर्म है। चित्त की पॉच अवस्थायें होती हैं जिन्हे चित्त की भूमि कहते हैं। (1) मूढ़ (2) क्षिप्त (3) विक्षिप्त (4) एकाग्र तथा (5) निरुद्ध।

(1) **मूढ़ावस्था** - इस अवस्था में तम प्रधान होता है, रज तथा सत्व दबे हुए गौण अवस्था में होते हैं। चित्त की ऐसी अवस्था में मनुष्य की प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म, राग और अनैश्वर्य में होती है। यह अवस्था नीच मनुष्यों की होती है।

(2) **क्षिप्तावस्था** इसमे रजोगुण की प्रधानता होती है तम और सत्व गौण रूप से दबे हुए रहते हैं। इसका कारण राग द्वेष आदि होते हैं। इस अवस्था मे धर्म-अधर्म, राग-विराग, ज्ञान-अज्ञान ऐश्वर्य और अनैश्वर्य में प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्यों की है।

(3) **विक्षिप्तावस्था** - इस अवस्था में सत्व गुण प्रधान होता है। रज तथा तम दबे हुए गौण रूप में रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ और मोहादि को छोड़ने से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में क्योंकि सत्व गुण किसी मात्रा मे बना रहता है, इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य मे होती है। परन्तु रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है यह अवस्था ऊँचे मनुष्यो तथा जिज्ञासुओं की है। यह तीनो अवस्थायें चित्त की अपनी स्वाभाविक अवस्था नही है क्योंकि बाहर के विषयों के गुणों से चित्त पर उनका प्रभाव पड़ता रहता है।

(4) **एकाग्रावस्था** - जब एक ही विषय में सदृश वृत्तियों का प्रवाह चित्त में निरतर बहता रहे तब उसको एकाग्रता कहते हैं। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है, अर्थात जब चित्त में बाह्य विषयों के रज तथा तम का प्रभाव न रहे तब वह निर्मल चमकते हुए स्फटिक के सदृश स्वच्छ होता है। एकाग्रता को सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं।

(5) **निरुद्धावस्था** - निरोधावस्था में चित्त की सभी वृत्तियो के निरुद्ध हो जाने पर भी उन वृत्तियों के संस्कार मात्र चित्त में रह जाते हैं। उन संस्कारों से युक्त चित्त निरुद्ध कहा जाता है। परन्तु निरोधावस्था में किसी प्रकार की वृत्ति न रहने के कारण कोई पदार्थ भी जानने में नहीं आता तथा अविद्या आदि पाँचों क्लेश सहित कर्माशय रूप जन्म आदि के बीज नही रहते। इसलिये इनको असम्प्रज्ञात तथा निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

इनमें प्रथम तीन भूमियों में यद्यपि कथञ्चित वृत्तिका निरोध है किन्तु ये तीनो भूमियां योग साधन के लिये वस्तुतः उपयुक्त नही हैं, प्रत्युत ये योग के उपघातक हैं अतएव ये योग के साधनो से दूर कर दिये गये हैं। अंतिम दोनो भूमियां योग के साधन के लिये सर्वथा उपयोगी हैं। इसलिये ये ही अंतिम दोनो भूमियां योग शास्त्र के लक्ष्य हैं उनमें भी प्रधान रूप से निरुद्ध अवस्था ही को योग कहते हैं। प्रथम तीन भूमियों को निरंतर अभ्यास द्वारा योग के उपयोगी बनाया जाता है।

चित्त का स्वरूप - चित्त त्रिगुणात्मक है अतएव परिणामी है। उसमें रजोगुण है और सदा क्रियाशील होना रजोगुण का स्वभाव है। अतएव किसी भी अवस्था मे चित्त रहे, उसमें क्रिया होती ही रहेगी। चित्त की दो मुख्य अवस्थायें होती है - एक तो कार्यावस्था जिसमें वृत्तियों के द्वारा सदैव कोई न क्रिया होती ही रहती है। योग शास्त्र

में इस व्युत्थान अवस्था कहते हे दूसरी वह अवस्था जिसमे वृत्तिया चित्त म ही निरुद्ध हो गयी हैं। इस अवस्था मे स्थूल दृष्टि से कोई भी क्रिया नही देख पड़ती है। इसे निरोध अवस्था कहते हैं।

किन्तु चित्त किसी भी अवस्था में हो उसमें क्रिया होती ही रहती है क्रियाओ के द्वारा जो परिवर्तन चित्त में होता रहता है उसे परिणाम कहते हैं। व्युत्थान अवस्था से निरोध अवस्था को प्राप्त होना भी चित्त का परिणाम है। व्युत्थान से निरोध को प्राप्त होने में व्युत्थान का तिरोभाव और निरोध का आविर्भाव होता है।

किन्तु निरोधकाल में भी व्युत्थान का तिरोभाव तो चित्त ही में रहता है और साथ-साथ निरोध का आविर्भाव भी उसी चित्त में रहता है। 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' ये दोनो ही चित्त के धर्म है। ये दोनो धर्म एक ही निरोध काल में चित्त में रहते हैं। साधक क्रमशः अधिक समय तक चित्त वृत्ति का निरोध करता है, अर्थात 'व्युत्थान-संस्कार' दुर्बल होता जाता है और निरोध संस्कार उत्तेजित हो जाता हे। इस प्रकार क्रमिक और निरतर अभ्यास के द्वारा एक दिन साधक के चित्त से व्युत्थान सस्कार सदा के लिये विलीन हो जायेगा और निरोध संस्कार पूर्ण बलवान होकर दृढ हो जायेगा और चित्त शान्त प्रवाह में मग्न हो जायेगा।

चित्तवृत्ति - चित्त जड़ है और पुरुष चेतन है। अनादि अविद्या के कारण पुरुष और प्रकृति में परस्पर एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध हो जाता है। इससे बुद्धि की वृत्तियों का पुरुष में आरोप होता है ओर मैं शान्त हूँ, मैं दुःखी हूँ इस प्रकार के ज्ञान पुरुष मे उदित होते हैं। बुद्धि की विषयाकार वृत्तियां पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हे वही पुरुष की वृत्ति कही जाती है। पुरुष का प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ता है। उससे चित्त भी अपने को चेतन के समान समझने लगता है। और चेतन की तरह कार्य करने लगता है। यही चित्त की वृत्ति है।

चित्त की वृत्तियां तो अज्ञान के कार्य हैं। इनको रोकना आवश्यक है। ये वृत्तिया जब धर्म अधर्म तथा वासनाओं के उत्पत्ति की कारण होती है जब वे क्लेश देती है तो क्लिष्ट कही जाती है और जब वे ख्याति देने वाली होती है तब वे अक्लिष्ट कहलाती हैं। इन वृत्तियों से संस्कार होते हैं और संस्कार से वृत्तियां होती है। इस प्रकार वृत्ति संस्कार चक्र अहर्निश चलता या अभ्यास के द्वारा संस्कारों का भी क्षय हो जाने से आत्यन्तिक लय में प्राप्त होकर विदेह कैवल्य को प्राप्त करता हे। निरोध समाधि में लय हो जाना ही योगियों की मुक्ति है।

वृत्तियों के भेद - चित्त वृत्तियां पाँच प्रकार की होती है। ये हैं - (1) प्रमाण

(2) विपर्यय (3) विकल्प (4) निद्रा (5) स्मृति। इन्ही में चित्त की अन्य सभी वृत्तिया अतर्भूत हैं।

(1) **प्रमाण** - प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं। इन्द्रियरूपी नाली के द्वारा चित्त वाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग को प्राप्त कर विषयाकार हा जाला है, अर्थात वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में मैं 'घट को जानता हूँ' इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। यही पौरुषेय चित्तवृत्ति बोध है। चक्षु आदि इन्द्रियां तो चित्त वृत्ति के जाने-आने के मार्ग हैं।।

जिस वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न हो, वह परोक्ष कहलाती है। जिस चिह्न या प्रक्रिया के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान हो उसे अनुमान कहते हैं। जैसे अपने या दूसरे के रसोईघर में वारम्वार धुआँ के साथ आग को देखकर देखने वाले के मन मे जहॉ धुआं है वहां आग है, इस प्रकार का एक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वह पुरुष जंगल में कहीं जाता हो तो उसे दूर किसी स्थान से उठता हुआ धुआ दिखाई पड़ता है। तब उसे स्मरण होता है कि जहाँ धुआं हो वहां आग होती है। इसके बाद वह पुनः उसी स्थान पर धुआं देखता है, किन्तु अव यह धुआं ''यत्र धूमः तत्र वह्निः'' इस व्याप्ति से विशिष्ट है। अन्त में वह निर्णय करता है कि यहाँ आग है। यही अनुमान की पूरी प्रणाली है।

जो ज्ञान आप्त वाक्य श्रवण द्वारा उत्पन्न होता है वह शब्द प्रमाण या आगम प्रमाण कहलाता है। इन प्रमाणों से पुरुप को जो ज्ञान होता है, वह फल प्रमा कहलाता है।

(2) **विपर्यय** - किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। विषय के समान आकार से परिणत चित्त वृत्ति को **प्रमाण**, और विपय से विलक्षण आकार से परिणत चित्त वृत्ति को विपर्यय समझना चाहिये।

मिथ्याज्ञान अर्थात जैसा अर्थ न हो वैसा उत्पन्न हुआ ज्ञान विषय कहलाता है। जैसे सीप मे चाँदी का ज्ञान, रस्सी में साँप का ज्ञान। जहाँ वस्तु अन्य हो और चित्त वृत्ति अन्य प्रकार की हो, वहॉ चित्त की वृत्ति उस वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित नही होती है इसलिये वह अतद्रूप प्रतिष्ठित होने के कारण विपर्यय ज्ञान कहलाता है। संशय भी विपर्यय के अंतर्गत है। यह विपर्यय संज्ञक चित्त की वृत्ति ही अविद्या कही जाती है। इसलिये अविद्यासंज्ञक विपर्यय ज्ञान, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भेद से पॉच प्रकार का है। भेद केवल इतना है कि यह विपर्यय चित्त की एक वृत्तिरूप है और क्लेश वृत्तियों के संस्कार रूप होते हैं।

(3) विकल्प शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला किन्तु वस्तु शून्य अर्थात जिस वस्तु का ज्ञान हो उस वस्तु का अत्यंत अभाव रहें, ऐसे ज्ञान को विकल्प कहते है। जैसे पुरुष का चैतन्य रूप है ऐसे शब्द ज्ञान के अनन्तर जो पुरुष का चैतन्य रूप हे ऐसा चित्त का तदाकार परिणाम विकल्प वृत्ति है क्योंकि इस वृत्ति में पुरुष विशेषण रूप और चैतन्य विशेष्य रूप भासता है। परन्तु जैसे अश्व का घोड़ा कहने से एक ही पदार्थ में विशेषण- विशेष्य भाव सम्भव नही है वैसे ही पुरुष में जो कि चैतन्य ही है विशेषण विशेष्य भाव सम्भव नही है। इसलिये 'पुरुष का चैतन्य रूप है' यह ज्ञान निर्विषय होने से विकल्प वृत्ति रूप है। चैतन्य ही पुरुष है ऐसा बोध होने पर भी 'पुरुष का चैतन्य रूप है' ऐसा व्यवहार होता है।

(4) निद्रा - किसी वस्तु के अभाव ज्ञान को आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है। इस अवस्था में तमस् के आधिक्य से 'जाग्रत' और स्वप्न की वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा ज्ञान का अभाव नही है। यह भी एक वृत्ति है सो कर उठने वाले पुरुष को जाग्रत अवस्था में मैं खूब सोया, मेरा मन शान्त है, मैंने कुछ नहीं समझा इत्यादि बोध होते हैं। इसलिये निद्रा को वृत्ति कहते हैं।

रजोगुण धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है। जाग्रत अवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है। इसलिये सत्व गुण को गौण रूप से अपना सहकरी बनाकर अस्थिर रूप से क्रिया में अर्थात विषयों में प्रवृत्त करने में लगा रहता है। तमोगुण का धर्म स्थिति दबाना, रोकना है। सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण रजोगुण और सत्व गुण को दबा लेता है। इसलिये चित्त में तमोगुण का ही परिणाम प्रधान रूप से रहता है। उस समय चित्त मे अभाव की ही प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक अंधेरे कमरे में सब वस्तुयें छिप जाती हैं किन्तु सब वस्तुओं को छिपाने वाला अन्धकार दिखायी पड़ता है जो वस्तुओ के अभाव की प्रतीति कराता है। इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति अवस्था में चित्त की सब वृत्तियों को दबाकर स्वयं स्थिर रूप से प्रधान रहता है, किन्तु रजोगुण का नितान्त अभाव नही होता है तनिक मात्रा में रहता हुआ वह इस अभाव की प्रतीति कराता है। चित्त के ऐसे परिणाम को निद्रा वृत्ति कहते हैं।

(5) स्मृति - अनुभव किये गये विषयों का ठीक-ठीक उसी रूप में स्मरण! होना स्मृति है। स्मृत्ति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है। अनुभव से ज्ञात वस्तु को अनुभूत कहते हैं। जब किसी दृष्ट अथवा श्रुत वस्तु का ज्ञान होता है तब एक प्रकार का अनुभूत वस्तु का तदाकार संस्कार चित्त में पड़ जाता है। फिर जब किसी उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर वह संस्कार प्रफुल्लित हो जाता है, तब चित्त इस संस्कार विषयक परिणाम को प्राप्त हो जाता है यह अनुभूत विषयक चित्त का तदाकार

परिणाम स्मृति वृत्ति कहलाता है। प्रमाण विपर्यय और विकल्प द्वारा जाग्रत अवस्था में जिस किसी वस्तु को अनुभव करते हैं तो उस अनुभव से चित्त पर संस्कार पडते हैं। उन संस्कारों से स्मृति होती है। अनुभव सदृश संस्कार होते हैं और संस्कार सदृश स्मृति होती है। निद्रा में अभाव का अनुभव होता है। उसके संस्कार से भी उसके सदृश समृति पैदा होती है। इसी प्रकार स्मृति के भी संस्कार पडते हैं और उनसे भी उसके सदृश स्मृति होती है। स्मृति का विषय अनुभूति से कम अथवा उसके बराबर होता है, उससे अधिक नहीं हो सकता है। स्वप्न भी जाग्रत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति है। इसमें जाग्रत के स्मर्तव्य विषय भी दिखलायी देते है, किंतु वे सब कल्पित होते है। यह स्मृति की स्मृति है। इसमें यह यथार्थ ज्ञान नही होता कि हम स्मरण कर रहे हैं। जाग्रत अवस्था में जो स्मृति होती है उसमें स्मर्तव्य विषय नहीं दिखलायी देता, किंतु हम को ज्ञान होता है कि हम स्मरण कर रहे हैं, यह वास्तविक स्मृति है।

चित्तवृत्ति निरोध के उपाय - चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से किया जाता है। चित्त का स्वाभाविक वहिर्मुख प्रवाह वैराग्य द्वारा निवृत्त होता है। अभ्यास द्वारा आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है। भगवान वेदव्यास जी द्वारा अभ्यास और वैराग्य को बड़े सुन्दर रूपक से निम्नवत् वर्णित किया गया है।

चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है इसकी दो धारायें हैं। एक ससार सागर की ओर बहती है और दूसरी कल्याण सागर की ओर। जिसने पूर्व जन्म म सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं, उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारो क कारण विषय मार्ग से बहती हुई संसार सागर में जा मिलती है और जिसने पूर्व जन्म में कैवल्यार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती हुई कल्याण सागर में जा मिलती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली रहती है, किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वर चिन्तन खोलते हैं। पहली धारा को वन्द करने के लिये विषयों के स्रोत पर वेराग्य का वन्ध लगाया जाता है और अभ्यास के वेलचे से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियो के समस्त प्रवाह को विवेक स्रोत में डाल दिया जाता है। तव प्रवल वेग से वह सारा चित्त प्रवाह कल्याण रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास तथा वैराग्य दोनो ही इकट्ठे मिलकर चित्त की वृत्तियों के निरोध के साधन हैं।

अभ्यास - चित्त के वृत्ति रहित होकर शान्त प्रवाह में बहने को स्थिति कहते है। उस स्थिति के प्राप्त करने के लिये वीर्य (पूर्ण सामर्थ्य) और उत्साहपूर्वक यत्न

करना अभ्यास कहलाता है।

यम, नियम आदि योग के आठ अंगों का बार-बार अनुष्ठान रूप प्रयत्न अभ्यास का स्वरूप है और चित्त वृत्तियों का निरोध होना अभ्यास का प्रयोजन हे।

पठन-पाठन, लेखन, पाक, क्रय-विक्रय, नृत्य, गायन आदि सभी कार्य अभ्यास से ही सिद्ध होते हैं। अभ्यास के बल पर रस्सी पर चढ़े हुए नट तथा सरकस आदि मे न केवल मनुष्य किन्तु सिंह, अश्व आदि पशु अपनी प्रकृति के विरुद्ध आश्चर्यजनक कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अभ्यास के प्रभाव से अति दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये जब साधक चित्त की स्थिरता के लिये अभ्यासनिष्ठ होगा तब वह स्थिरता भी उसको अवश्य प्राप्त होगी।

विषय भोग वासनाजन्य व्युत्थान (संसारावस्था) के संस्कार मनुष्य के चित्त मे अनादि जन्म जन्मान्तरो से पड़े चले आ रहे हैं। उनको थोड़े से ही समय में बीज सहित नष्ट कर देना अत्यंत कठिन है। तनिक सी भी असावधानी होने पर वे निरोध के सस्कारों को दबा सकते हैं। इस कारण अभ्यास को दृढ़ भूमि बनाने हेतु धैर्य के साथ दीर्घकाल पर्यन्त लगातार श्रद्धा और उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

वैराग्य - वैराग्य दो प्रकार का है अपर-वैराग्य और पर वैराग्य। विषय दो प्रकार के हैं दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं जो इस लोक में दृष्टि गोचर होते हैं जेसे शव्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, धन-सम्पत्ति, अन्न, खानपान, स्त्री, राज, ऐश्वर्य आदि आनुश्रविक विषय वे हैं जो वेद, और शास्त्रों द्वारा सुने गये हैं, ये भी दो प्रकार के होते हैं। (1) शरीरान्तर वेद्य - जैसे देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृति लय का आनन्द। (2) अवस्थान्तर वेद्य जैसे दिव्य रस - गंध आदि अथवा संयम द्वारा प्राप्त की गयी सिद्धियां।

इन दोनो प्रकार के दिव्य और अदिव्य विषयों की उपस्थिति में भी जब चित्त इनके दोषों को देखता हुआ इनके संग दोष से सर्वथा रहित हो जाता है न इनको ग्रहण करता है न परे ही हटाता है अर्थात् जव इनमें उसका ग्रहण करने वाला राग और परे हटाने वाला द्वेष दोनो निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार चित्त एक रस बना रहता है। चित्त की ऐसी संज्ञा का नाम वशीकार संज्ञा वैराग्य है। इसी को अपर वैराग्य कहते हैं।

किसी विषय के केवल त्यागने का नाम वैराग्य नही है। क्योंकि रोग आदि के कारण भी विषयो से अरुचि हो जाती है, जिससे उनका त्यागना होता है। किसी विषय के अप्राप्त होने पर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता। दिखाने के लिये तथा भय क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत होकर अथवा दूसरे के आग्रह से भी

किसी विषय को त्यागा जा सकता है परन्तु उसकी तृष्णा सूक्ष्म रूप से मन मे बनी रहती है।

अधर्म, धर्म और असत्य सत्य दोनो को त्याग दे। दोनो तामसी और सात्विक वृत्तियों को त्यागकर जिस वृत्ति से इन दोनो को त्यागा है उसे भी त्याग दें। इसमें भी तृष्णा का अभाव होना पर वैराग्य है अर्थात मन को विषयों में प्रवृत्त करने वाला उन विषयों मे राग ही है। जब मन को एक ध्येय विषय में लगाया जाता है, तब वह अन्य विषयों से राग होने के कारण उनकी ओर भागता है और ध्येय विषय में स्थिर नही रहता। इन अन्य सब विषयों से राग निवृत्त होने पर केवल एक ध्येय विषय में राग का बना रहना अपर वैराग्य है, जिसका फल एकाग्रता अर्थात सम्प्रज्ञात समाधि है। इस सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा विवेक ख्याति है जिसमें पुरुष और चित्त की भिन्नता का विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात चित्त द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है। किन्तु यह भी सत्व गुणात्मक एक प्रकार की वृत्ति है और चित्त ही का कार्य है। इसमें भी राग का न रहना पर वैराग्य है। जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है। आरम्भ में असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध नही होता अर्थात असम्प्रज्ञात समाधि क्षणिक होती है किन्तु धीरे-धीरे इसके संस्कार बढ़ने और व्युत्थान के संस्कार दबने लगते हैं। विवेक ख्याति की स्थायी अवस्था का नाम धर्ममेध समाधि है। धर्ममेध समाधि की पराकाष्ठा परवैराग्य है। जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है और असम्प्रज्ञात समाधि की अंतिम सीमा कैवल्य है।

चित्त का वशीकार - जाग्रत अवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है, इस कारण वृत्तियां बहिर्मुख होती है। स्वप्न में रजोगुण बना रहता है, परन्तु तमोगुण से आच्छादित होता है, इस कारण वृत्तियां अंतर्मुख हो जाती हैं। निद्रा में तमोगुण रजोगुण को प्रधान रूप से दबा लेता है, इस कारण उस समय केवल अभाव की प्रतीति कराने वाली वृत्ति रहती है। जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तिया अतर्मुख होती हैं, इसी प्रकार ध्यान की अवस्था में तम के स्थान पर सत्व गुण से वृत्तियां अंतर्मुख की जाती है। जिस प्रकार निद्रा में तमोगुण की अधिकता से अभाव की प्रतीति होती है उसी प्रकार सत्व गुण की प्रधानता से एकाग्रता उत्पन्न होती है जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का सहारा लेकर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिये।

मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचियां होती है, इस कारण जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्विक श्रद्धा हो, उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र हो जाता है। यह भी देखा गया है कि, जिन महान योगियों ने विषयों की अभिलाषा पूर्णतया छोड़ दी

है जिसके कारण उनके चित्त से अविद्या आदि क्लेशो के सकार मिट गये है उनके चित्त का ध्यान करने वाले चित्त मे भी वैसे ही सात्विक सस्कार उत्पन्न होते हैं ओर वह सुगमता से एकाग्र हो जाता है।

जब ऊपर बताये हुए उपाय से चित्त में एकाग्र होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब वह पूर्णतया वश में हो जाता है। जब दोनो सूक्ष्म (परमाणु) वृह्द् (आकाश) विषयों में चित्त स्थिल हो जाता है तब स्थिरता चित्त के वशीभूत हो जाती है अर्थात इच्छानुसार चित्त को स्थिर किया जा सकता है। इस प्रकार दोनो कोटियो में जाते हुए चित्त का जो रुकावट का न होना है, वह चित्त का परम वशीकर कहलाता है।

चित्तविक्षेप

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये चित्त के नौ विक्षेप अर्थात योग के विघ्न कहे गये हैं। इनके वर्तमान होने पर अन्य सहायक प्रतिबन्धक जैसे, दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व श्वांस प्रश्वास भी उपस्थित हो जाते हैं। इन योग के शत्रुओं को अभ्यास वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान द्वारा दूर करना चाहिये।

व्याधि - धातु, रस और करण की विषमता से उत्पन्न हुए ज्वरादिक व्याधि कहलाते हैं। वात-पित्त-कफ इन तीनो का नाम दोष है। रस, रक्त, मांस, मेंद, अस्थि, मज्जा शुक्र से सात धातु हैं। इनकी इयत्ता को त्यागकर न्युनाधिक हो जाना धातु की विषमता अथवा दोष प्रकोप कहा जाता है। खाये पीये अन्न जल के परिपाक दशा को प्राप्त हुए सार का नाम रस है। खाये पीये अन्न जल का सम्यक रूप से न पचना रस की विषमता है। करण नेत्रादि इन्द्रियों का नाम है। कम देखना, कम सुनना आदि करण की विषमता है।

स्त्यान - चित्त की अकर्मण्यता अर्थात इच्छा होने पर भी किसी कार्य को करने की सामर्थ्य न होना।

संशय - मैं योग साधन कर सकूँगा कि नहीं कर सकूंगा, करने पर भी योग सिद्ध होगा या नही इन दो कोटियों का विषय करने वाला ज्ञान संशय है।

प्रमाद - समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना।

आलस्य - चित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण ध्यान न लगना शरीर का भारीपन कफ आदि के प्रकोप से और चित्त का भारीपन तमोगुण की अधिकता से होता है।

अविरति विषयों में तृष्णा बनी रहना अर्थात विषयेन्द्रिय-सयोग से चित्त की विषयों में तृष्णा होने से वैराग्य का अभाव।

भ्रान्ति दर्शन - मिथ्या ज्ञान (योग के साधनों तथा उनके फल को मिथ्या जानना)

अलब्ध-भूमिकत्व - किसी प्रतिवन्धक वश समाधि - भूमि को न पाना अर्थात समाधि में न पहुँचना।

अनवस्थितत्व - समाधि भूमि को पाकर भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात ध्येय का साक्षात् करने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना।

उपर्युक्त नौ विघ्न एकाग्रता से हटाने वाले हैं और चित्त की वृत्तियों के साथ होते हैं उनके अभाव में नही होते। इन विक्षेपों की उपस्थिति में होने वाले उपविक्षेप निम्नवत् है -

दुःख - अर्थात पीड़ा जिसकी चोट खाकर उसके नाश करने का यत्न करते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक दृष्टि से तीन प्रकार का है। उनमे से काम, क्रोध आदि जन्य मानस परिताप और व्याधि आदि जन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। आत्मा, यहाँ मन तथा शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ हे सिंह, सर्प आदि प्राणियों से जन्य दुःख आधिभौतिक है। विद्युत्ताप, अतिवर्षण अग्नि, वायु आदि दैविक शक्तियों से जन्य दुःख आधिदैविक है।

दौर्मनस्य - इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में क्षोभ होना।

अंगमेजयत्व - शरीर के अंगो का काँपना

श्वास - बिना इच्छा के वाहर के वायु का नासिका द्वारा अंदर आना।

प्रश्वास - विना इच्छा के भीतर के वायु का नासिका छिद्रों द्वारा वाहर निकलना।

विक्षेप दूर करने के उपाय : ईश्वर प्रणिधान - विक्षेप अथवा उपविक्षेपो को दूर करने के लिये एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये अर्थात किसी अभिमत एक तत्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिये यत्न करना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रता के उदय होने पर सव विक्षपों का नाश हो जाता है। यह एक साधारण उपाय है। सवसे उत्तम उपाय ईश्वर प्रणिधान है।

ईश्वर प्रणिधान से केवल शीघ्रतम समाधि का ही लाभ नही होता वल्कि विघ्नो की निवृत्ति के साथ-साथ प्रत्यक् चेतना के स्वरूप का भी साक्षात्कार हो जाता है। भाव यह है कि उपास्य के जिन गुणों की भावना करके उपासक ध्यान करता है उन्ही

गुणा का उपासक मे समावेश हा जाता है जेसे ईश्वर चेतन कूटस्थ नित्य हे और क्लेशादिकों से रहित है वैसे भी वास्तव में जीवात्मा भी चेतन कूटस्थ नित्य ओर क्लेशाडिकों से रहित है। इस सादृश्यता से ईश्वर के ध्यानरूप प्रणिधान से प्रणिधान कर्ता को अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और योग विघ्नो का अभाव हो जाता है।

क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असम्बद्ध अन्य पुरुषों से विशेष ईश्वर है। उपासक को संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय से कोई प्रयोजन नही होता। उसको क्लेश सकाम कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से जो बन्धन के कारण हैं छुटकारा पाना है। इसलिये ईश्वर के ऐसे विशेष स्वरूप में उपासना करना उसे वतलाया गया है।

यद्यपि सभी पुरुषों में वास्तविक क्लेशादि नहीं है तथापि चित्त में रहने वाले क्लेशादिक पुरुष के साथ औपाधिक सम्बन्ध है। अर्थात चित्त में रहने वाले क्लेशादि पुरुष में अविवेक से आरोपित कर लिये जाते हैं। जैसे सेनाओं में जीत-हार होती हे पर वह राजा की जीत हार कही जाती है अर्थात जैसे राजा ओर सेना का परस्पर स्व स्वामिभाव सम्बन्ध होने से सेना को जय-पराजय का स्वामिभूत राजा में व्यवहृत होता है क्योंकि वह उसके फल का भोक्ता है। इसी प्रकार चित्त और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होने से चित्त में वर्तमान क्लेशादि का व्यवहार पुरुष में ही होता है, क्योकि वह उसके फल का भोक्ता है। किन्तु यह अविवेक युक्त औपाधिक सम्बन्ध विवेक शील ईश्वर में सम्भावित नहीं है। यह औपाधिक, भोग के सम्बन्ध का न होना ही ईश्वर में अन्य पुरुषों से विशेषता है, अर्थात् पुरुष के चित्त के साथ एकरूपतापन सम्बन्ध से जो चित्त के पुरुष में औपाधिक धर्म आरोपित किये जाते हैं उन धर्मो से असम्बन्ध जो विशुद्ध सत्व गुण प्रधान चित्तोपाधिक नित्य ज्ञान ऐश्वर्यादि, धर्म विशिष्ट सत्यकाम, सत्य संकल्प चेतन है वह ईश्वर पद का वाच्य है। वह अन्य पुरुपो से विशेष है।

जिस प्रकार ज्ञान की काष्ठा का आधार, ईश्वर वतलाया गया है इसी प्रकार धर्म वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री, प्रभूति और सम्पत्ति की काष्ठा का आधार भी ईश्वर को जानना चाहिये। ईश्वर काल की सीमा से परे गुरुओं का गुरु है। गुरु शिष्य का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक है, जिसमें केवल ज्ञान प्राप्ति और आत्मोन्नति ही उद्देश्य होता है। इसलिये ईश्वर को गुरुओं के गुरु की भावना से उपासना बतायी गयी है।

उस ईश्वर का बोधक शब्द 'ओ३म्' है। इस 'ॐ का और ईश्वर का वाच्य

वाचक सम्बन्ध है अर्थात निरतिशय ज्ञान क्रिया की शक्ति रूप ऐश्वर्य वाला व्यापक ईश्वर वाच्य है, अभिधेय है। और 'ॐ' वाचक बोधक और अभिधायक है।

'ॐ' का मानसिक जप करना और उसका वाच्य अर्थ जो ईश्वर है के गुणों की भावना अर्थात पुनः पुनः ध्यान करना ईश्वर प्रणिधान है। चित्त को सब ओर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है। इस भावना से अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म कर्मफल और वासनाओं के संस्कार जो बन्धन अर्थात जन्म और मृत्यु के कारण हैं चित्त से धुल जाते हैं और सात्विक शुद्ध ज्ञान के संस्कार उदय होते हैं और केवल ईश्वर ही एक ध्येय रह जाता है। यह भावना बार-बार के अभ्यास से इतनी दृढ़ हो जानी चाहिये कि 'ॐ' शब्द के साथ ही उसका अर्थ भी स्मरण हो जाय।

'ओ३म्' की पहली मात्रा 'अकार' परमात्मा के विराट रूप की बोधक है जो विश्व का उपास्य है। दूसरी मात्रा 'उकार' हिरण्यगर्भ की बोधक है, जो तैजस का उपास्य है। तीसरी मात्रा 'मकार' ईश्वर की बोधक है जो प्राज्ञ का उपास्य है। चौथे 'इति विराम' में सब मात्रायें समाप्त हो जाती हैं। वह गुणों की सर्व उपाधियों से रहित केवल शुद्ध निर्गुण परमात्मा स्वरूप है, जहाँ उपास्य और उपासक के भेदभाव समाप्त हो जाते हैं।

❑❑

प्राणायाम और प्रत्याहार

प्राण और अपान वायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहने से रेचक पूरक और कुम्भक की क्रिया समझी जाती है। मुख्य प्राण के पाँच भेद हैं - प्राण, अपान, समान, ब्यान और उदान। प्राण का निवास स्थान हृदय, अपान का मूलाधार और समान का स्थान नाभि है पूरक में प्राण समान से नीचे जाकर अपान के साथ मिलता है और रेचक में अपान समान से ऊपर जाकर प्राण से मिलता है। प्राणायाम चित्त की एकाग्र स्थिति उत्पन्न करता है।

चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं, प्राण स्पन्दन अर्थात् प्राणों की निरंतर क्रिया और दूसरी वासना इन दोनो में से एक के क्षीण होने से दूसरा भी शीघ्र ही क्षीण हो जाता है।

सब इन्द्रियों का कार्य प्राण के व्यापार से चलता है और मन तथा प्राण का अपने-अपने व्यापार में परस्पर एक सा ही योगक्षेम है। अर्थात् दोनों का कार्य करने में अधिक सम्बन्ध है। इसलिये प्राण सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोककर मन की एकाग्रता करने में समर्थ हैं जिस प्रकार धातु के मल अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों के दोष भी प्राण के रोकने से नष्ट हो जाते हैं। दोषों से ही चित्त की वृत्तियां विक्षिप्त होती है। प्राणायाम दोषों को दूर करके चित्त की एकाग्रता करने मे समर्थ होता है।

प्राण - चित्त के सदृश प्राण का ज्ञान भी आवश्यक है। प्राण श्वास नही है जेसा कि कुछ व्यक्ति समझते हैं और न ही आत्मतत्व है जैसा कि कई पाश्चात्य विद्वान मानते हैं। प्राण वह जड़ तत्व है जिससे श्वास प्रश्वास आदि समस्त क्रियायें एक जीवित शरीर में होती है।

सृष्टि के आरम्भ में पाँचो स्थूल भूत, लोक लोकान्तर और सारे जंगम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादान कारण आकाश से प्राणशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्राण शक्ति से सहारा पाकर जीवित रहते हैं और प्रलय के समय इसी का आश्रय न पाकर कार्य रूप से नष्ट होकर अपने कारण रूप आकाश में मिल जाते हैं।

भौतिक पदार्थों में सबसे अधिक व्यापकता का सूचक आकाश और सबसे अधिक शक्ति का प्रकाशक प्राण माना गया है, इसलिये परमात्मा की व्यापकता को आकाश से और ज्ञानमय शक्ति सत्ता को प्राण से निर्दिष्ट किया गया है। प्राण जीवन शक्ति है, यह समष्टि रूप से सारे ब्रह्माण्ड को चला रहा है। इसी प्रकार व्यष्टि रूप से न केवल मनुष्य का पिण्ड शरीर बल्कि वृक्ष, लता, कीट, पतंग, जलचर, पशुपक्षी आदि सारे शरीर इससे जीवन पा रहे हैं, इसलिये ये सब 'प्राणी' या 'प्राणधारी' कहलाते हैं।

मनुष्य शरीर में वृत्ति कार्य भेद से इस प्राण को मुख्यतया पाँच भिन्न भागो में विभक्त किया गया है - प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

(1) **प्राण** - श्वास का अंदर ले जाना और बाहर निकालना मुख और नासिका द्वारा गति करना भुक्त अन्न जल को पचाना और अलग करना, अन्न को पुरीष पानी को पसीना और मूत्र तथा रसादि को वीर्य बनाना प्राण वायु का काम है। हृदय से लेकर नासिका पर्यन्त शरीर के ऊपरी भाग में वर्तमान है। ऊपर की इन्द्रियो का काम इसके आश्रित है।

(2) **अपान** - अपान वायु का काम गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र, अण्डकोश से वीर्य निकालना तथा गर्भ आदि को नीचे ले जाना। नीचे की ओर गति करता हुआ नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है। निचली इन्द्रियों का काम इसके अधीन है।

(3) **समान** - समान वायु देह के मध्य भाग में नाभि से हृदय तक वर्तमान है। पचे हुए रस आदि को सब अंगों और नाड़ियों में बराबर बाँटना इसका काम है।

(4) **व्यान** - इसका मुख्य स्थान उपस्थ मूल से ऊपर है सारी स्थूल और सूक्ष्म नाडियों में गति करता हुआ शरीर के सब अंगों में रुधिर का संचार करता है।

(5) **उदान** - कण्ठ में रहता हुआ सिरपर्यन्त गति करने वाला है। शरीर को उठाये रखना इसका काम है। उसके द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। उदान द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म शरीर के कर्म गुण वासनाओं और संस्कारों के अनुसार गर्भ मे प्रवेश करना होता है। इसी के द्वारा स्थूल शरीर से निकलकर लोक लोकान्तर में घूमा जा सकता है।

प्राणो को अपने अधिकार मे चलाने वाल मनुष्य का अधिकार उसक शरीर इन्द्रियों तथा मन पर हो जाता है। प्राणों के वश में करने का नाम प्राणायाम है। प्राणवायु का स्थान हृदय है, यहाँ व्याप्त होकर नासिका द्वारा बाहर की ओर चलता है। अपान गुदा में व्याप्त होकर नीचे की ओर गति करता है और समान नाभि मे व्याप्त होकर भुक्त अन्न आदि के रस को अंगो और नाड़ियों में पहुँचाता है।

पूरक में प्राणवायु को गुदा स्थान तक ले जाकर अपान वायु में मिलाया जाता है, रेचक में अपान को प्राण द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है, कुम्भक में प्राण और अपान दोनो की गति को समान के स्थान नाभि में रोक दिया जाता है। इससे रज और तम का मल दग्ध होकर सत्व का प्रकाश बढ़ता है और मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। प्राणायाम से मनुष्य स्वस्थ एवं निरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मन का प्राण से घनिष्ठ सम्बन्ध है, मन को रोकना अति कठिन है पर प्राण के निरोध तथा वशीकार से मन का निरोध और वशीकार करना सुगम हो जाता है, इसलिये प्राणायाम योग का आवश्यक साधन है।

सूक्ष्म प्राण का वर्णन - मनुष्य शरीर में प्राण प्रवाहिनी असंख्य नाड़ियो मे सुषुम्णा, इड़ा और पिंगला तीन प्रधान नाड़ियां हैं जिनका योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों में सुषुम्णा सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अतिसूक्ष्म नली के सदृश है जो गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर चली गयी है। इसी स्थान को इसके वाम भाग से इड़ा और दक्षिण भाग से पिंगला नासिका मूल पर्यन्त तक चली गयी है। वहाँ भ्रूमध्य में ये तीनो नाड़ियां परस्पर मिल जाती है। सुषुम्णा को सरस्वती इडा को गंगा और पिंगला को यमुना कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ से ये तीनों नाडिया पृथक होती हैं उसको 'मुक्त त्रिवेणी' और भ्रूमध्य में जहाँ ये तीनो पुनः मिल गयी हे उसको 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं।

साधारणतया प्राणशक्ति निरंतर इड़ा और पिंगला नाड़ियों से श्वास प्रश्वास रूप से प्रवाहित होती रहती है। इड़ा तम प्रधान और पिंगला रज प्रधान है। श्वास कभी दायें नथुने से अधिक वेग से चलता है कभी बायें नथुने से और कभी दोनो नथुनो से समान वेग से चलता है। जब बायें नथुने से श्वास अधिक वेग से चलता रहे तो उसे इड़ा या चन्द्र स्वर और जब दायें से अधिक वेग से बहे तो उसे पिंगला या सूर्य स्वर कहते हैं एवं जब दोनो नथुनो से समान गति से अथवा एक क्षण एक नथुने से और दूसरे क्षण दूसरे नथुने से प्रवाहित हो तो उसे सुषम्णा स्वर कहते हैं। स्वस्थ मनुष्य का श्वास एक अहोरात्र (एक-दिन-रात) से बारह बार बायें और बारह ही बार दायें नथुने से क्रमानुसार चलता है। शारीरिक विकार एवं रोग की अवस्था में स्वर

अनियमित रूप से चलता है जुकाम की अवस्था में इसका स्पष्ट अनुभव होता है उस अवस्था में अपने प्रयत्न द्वारा स्वर को बदलने से रोग की निवृत्ति में सहायता मिलती है। स्वर साधन से स्वेच्छानुसार स्वर का बदलना अति सुगम हो जाता है।

स्वर साधन - (1) जो स्वर चलाना हो उस नथुने पर कुछ समय तक ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है।

(2) जो स्वर चलाना हो उसके विपरीत करवट लेटकर पसली के नीचे तकिया दबाने से कुछ काल में वह स्वर चलने लगता है।

(3) जो स्वर चलाना हो उसके विपरीत स्वर में रुई अथवा वस्त्र की गोली रखने से वह चलने लगता है।

(4) बन्द स्वर को अंगूठे या उंगली से दबाकर चालू स्वर से श्वास लेकर पुन उसे दबाकर बन्द स्वर से श्वास निकाले इस प्रकार कई बार करने से बन्द स्वर चलने लगता है।

(5) प्राणायाम आदि करने से स्वर बदल जाता है।

योगाभ्यास सदैव सुषुम्णा स्वर के समय करना चाहिये। अतः ध्यान आदि प्रारम्भ करने से पहले प्राणायाम द्वारा सुषुम्णा स्वर चलाना चाहिये।

सुषुम्णा नाड़ी और चक्र - सुषम्णा के भीतर एक वज्र नाड़ी है, वज्र के अदर चित्रणी और चित्रणी के मध्य में ब्रह्म नाड़ी है। ये सब नाड़ियाँ मकड़ी के जाले के समान अतिसूक्ष्म, सत्व प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्ति वाली हैं। ये ही सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म प्राण के स्थान हैं। इनमें वहुत से सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं, जिनमे बहुत सी अन्य सूक्ष्म नाड़ियां मिलती हैं। इन शक्तियों के केन्द्रों को चक्र या पद्म कहते हैं। इनमें मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र और सहस्रार चक्र, सात मुख्य चक्र हैं।

ये चक्र पाँचों तत्त्वों, पाँचों तन्मात्राओं, पाँचो ज्ञानेन्द्रियों, पाँचो कर्मेन्द्रियो, पॉचो प्राणों, अंतःकरण, समस्त वर्णो - स्वरों तथा सातो लोको के मण्डल हैं और नाना प्रकार के प्रकाश तथा विद्युत से युक्त हैं। साधारण अवस्था में ये चक्र बिना खिले कमल के सदृश अधोमुख हुए अविकसित रहते हैं। ध्यान द्वारा तथा अन्य प्रकार से उत्तेजना पाकर जब ये उर्ध्वमुख होकर विकसित होते हैं तब उनकी अलौकिक शक्तियों का विकास होता है।

प्राणायाम की क्रिया

बन्धों का प्रयोग - स्थिरासन में खेचरी मुद्रा के साथ नेत्रों को बन्द करके

प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये. सिर, गर्दन, और मेरुदण्ड सीधे रहे, शरीर को ढीला रखना चाहिये। मूलबन्ध आरम्भ से अन्त तक तीनो प्राणायामों में लगा रहना चाहिये। उड्डीयान को भी लगाये रखने का प्रयत्न करें। रेचक में पूरा उड्डीयान करके पेट को पीठ से मिला देना चाहिये। पूरक और कुम्भक के समय पेट की नाड़ियो को फुलाकर आगे की ओर नही बढ़ाना चाहिये बल्कि सिकोड़ कर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भक के समय जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। कुम्भक की समाप्ति पर जालन्धर बन्ध खोलकर रेचक किया जाता है। बिना जालन्धर बन्ध लगाये दोनो नासिका पुट को उंगलियों से बन्द करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

अंगुलियों का प्रयोग - वाम नासिका पुट से पूरक करते समय दाहिने नासिका पुट को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाना होता है। कुम्भक के समय वाम नासिकापुट को भी दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका से दबाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। अर्थात यदि जालन्धर बन्ध न लगाना हो तो कुम्भक में दोनो नासिका पुट सीधे हाथ की नियुक्त अंगुलियों से बन्द किये जाते हैं। दक्षिण नासिका पुट से रेचक करते समय केवल वाम नासिका पुट को बन्द रखना होता है, दाहिने पर से ॲगुलिया हटा ली जाती हैं। इसी अवस्था में दाहिने नथुने से पूरक किया जाता है और कुम्भक के समय इसको भी पूर्ववत् बन्द कर किया जाता है। बायें नथुने से रेचक के समय उस नथुने पर से अँगुलियां हटा ली जाती हैं। दोनो नथुनो से रेचक तथा पूरक करते समय दोनो नथुनो पर से अंगुलियां हटा ली जाती हैं। आरम्भ में ही अंगुलियो के प्रयोग की आवश्यकता होती है। अभ्यास परिपक्व हो जाने पर नथुनो को अंगुलियो से दबाये बिना भी रेचक पूरक कुम्भक किया जा सकता है।

प्राणायाम का स्वरूप - रेचक, पूरक और कुम्भक - यह तीनो तीन वर्ण रूप है। वही यह प्रणव कहा गया है। प्राणायाम प्रणव रूप ही है। जिस प्रकार ऊँ में 'अ' 'उ' 'म' ये तीन वर्ण है, इसी प्रकार पूरक, कुम्भक, रेचक तीनों में तीन-तीन वर्ण है। इसलिये यह तीनो प्रणव ही हैं। ऐसा जानकर इन तीनो के अलग-अलग अभ्यास मे प्रणव उपासना की भावना करनी चाहिये। पूरक का बीजमंत्र 'अं' है कुम्भक का 'उ' और रेचक का 'मं' है। इस प्रकार सहित प्राणायाम को प्रणवात्मक समझ कर उसमे प्रणव की उपासना की भावना करते हुए पूरक में 'अं' का कुम्भक में 'उ' का और रेचक में 'मं' का जाप करते हुए अथवा पूरक कुम्भक और रेचक तीनो को अलग-अलग प्रणवात्मक जानकर उनमें प्रणव की उपासना की भावना करते हुए तीनो में 'ऊँ' की निश्चित मात्रा से जप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राणायाम है।

साधारण सहित कुम्भक बीज मत्र अ अथवा ओ३म का छ बार मानसिक जप करते हुए बाये नासिका पुट स धीमे-धीमें बिना आवाज किये हुए वायु को मूलाधार तक पूरक करें। चौबीस वार बीजमंत्र 'उं' अथवा 'ऊँ' का मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करें। बीजमंत्र 'मं' अथवा 'ओ३म्' का बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना आवाज किये हुए वायु को दायें नासिका से रेचक करें। थोडी देर वायु को बाहर रोककर पूर्ववत् छः मात्रा में 'अं' अथवा 'ऊँ' का जाप करते हुए इसी नासिका से पूरक करें। पूरक के पश्चात पूर्ववत् कुम्भक तत्पश्चात बायें नासिका पुट से रेचक करें। ये दो प्राणायाम हुए। इसी प्रकार दोनो नासिका पुटों से एक साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है। प्राणायाम की संख्या यही रहे। पूरक कुम्भक और रेचक की मात्रायें 1 / 4 / 2 के अनुपात में रहें। साधारण सहित कुम्भक के अन्तर्गत निम्नलिखित उपयोगी प्राणायाम है।

किसी सुखासन में बैठकर नाडी की धड़कन को 1 से 6 तक गिनते हुए पूरक, 1 से 3 तक गिनते हुए आभ्यांतर कुम्भक, 1 से 6 तक गिनते हुए रेचक और एक से तीन तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार सात प्राणायाम करें। मात्रायें इसी प्रकार क्रमानुसार बढ़ाते जाय। इस प्राणायाम से मन की एकाग्रता होती है तथा विना तार वाले यंत्र के सदृश दूर-दूर स्थानों में बैठे हुए दो मनुष्य एक निश्चित समय पर इस प्राणायाम द्वारा तालयुक्त होकर अपने विचारों की तरगे एक दूसरे तक पहुँचा सकते हैं।

उपर्युक्त विधि के परिपक्व होने पर सातो चक्रों पर क्रमानुसार ध्यान करते हुए निम्नलिखित प्राणायाम को करें। पूरक में ऐसी भावना करें कि श्वास मूलाधार चक्र मे अन्दर आ रहा है। आभ्यान्तर कुम्भक में श्वास को उसी स्थान पर रोके फिर रेचक मे ऐसी भावना करें कि श्वास वहाँ से बाहर निकल रहा है। फिर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार सात प्राणायाम करें। इसी प्रकार क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र तथा ब्रह्म रन्ध में ध्यान करते हुए प्राणायाम करें। इससे चक्रभेदन में सहायता मिलती है।

विवेक ज्ञानरूपी प्रकाश तम तथा रजोगुण के कारण अविद्या आदि क्लेशो के मल से ढका रहता है प्राणायाम के अभ्यास से यह आवरण क्षीण हो जाता है और वह प्रकाश प्रकट होने लगता है। प्राणायाम से मन स्थिर हो जाता है और उसमें धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

प्रत्याहार - इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना प्रत्याहार है। प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना, उल्टा

होना विषयो से विमुख होना इसमे इन्द्रिया अपने बहिमुख विषय से पीछ हटकर अतर्मुख होती है। जब चित्त का बाहर के विषयों से उपराग होता है तभी उनको ग्रहण करती हैं। यम नियम प्राणायाम आदि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है तब इन्द्रियां भी अंतर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती है। यही उनका प्रत्याहार है। इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मतत्व के अभिमुख होता है। परन्तु इन्द्रियां केवल बाह्य विषयों से विमुख होती है। चित्त के सदृश आत्म तत्व से अभिमुख नही होती है। इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों को जीतने के लिये अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नही है। प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्कृष्ट वशीकार होता है। चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न होना इन्द्रिय जय है।

❑❑

संयम

धारणा - चित्त का वृत्तिमात्र से किसी स्थान विशेष में बाँधना धारणा कहलाता है। चित्त बाहर के विषयों को इन्द्रियों द्वारा वृत्तिमात्र से ग्रहण करता है। जब प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियां अंतर्मुख हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय विषय को वृत्तिमात्र से ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय के तदाकार होकर स्थिर रूप से भासने लगती है। अर्थात स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है। जिस स्थान पर वृत्ति को ठहराया जाता है उसे ध्येय कहते है। नाभि, हृदय कमल, नासिका का अग्रभाग, भृकुटि, ब्रह्मरन्ध आदि आध्यात्मिक ध्येय है। दीपक, प्रतिमा चन्द्र, ध्रुव, विन्दु आदि बाह्य ध्येय है। जब आसन प्राणायाम प्रत्याहार आदि से चित्त स्थिर हो जाय तब उसे अन्य विषयों से हटाते हुए एक ध्येय विषय में वृत्तिमात्र से ठहराना धारणा कहलाता है।

ध्यान - धारणा में चित्त जिस वृत्तिमात्र से ध्येय में लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आये तब उसको ध्यान कहते हैं।

समाधि - ध्यानावस्था में जो ध्येय आलम्बन वाली वृत्ति समान प्रवाह से उदय होती रहती है वह ध्यातृ ध्यान और ध्येय तीनो से मिश्रित रहती है अर्थात वह तीनो मे तदाकार होती हुई ध्येय के स्वरूप से भासने वाली होती है। इसी कारण उसमें धयातृ और ध्यान दोनो बने रहते हैं। इन दोनो के बने रहने से ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को सम्पूर्णता से नहीं प्रकाशित करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति में ध्येयस्वरूपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ तथा ध्यान उसके प्रकाशन करने में शून्य जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रबल हो जाय कि

ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूप से सर्वथा शून्य जैसे होकर ध्येय स्वरूप मात्र से भासन लगे और ध्येय का स्वरूप ध्यातृ और ध्यान से अभिन्न होकर ध्येयाकार वृत्ति मे सम्पूर्णता से भासने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

योग के अंतिम तीन अंगो - धारणा, ध्यान और समाधि में समाधि अंगी है धारणा ध्यान उसके अंग हैं। जब किसी विषय में चित्त को ठहराया जाता है, तब चित्त की वह विपयाकार वृत्ति त्रिपुटी सहित होती है। तीन आकारों के समाहार अर्थात इकट्ठे होने का नाम त्रिपुटी है वह त्रिपुटी ध्यातृ, ध्यान और ध्येय रूप हे। ध्यातृ ध्यान करने वाला आत्मा से प्रकाशित चित्त है। चित्त की वह वृत्ति जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है ध्यान है, और ध्यान का विषय ध्येय है। किसी विषय में चित्त को ठहराते समय उस विपयाकार वृत्ति त्रिपुटी का इस प्रकार अलग-अलग भान होता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ यह ध्यान है, इस विपय का ध्यान हो रहा है।

जब तक त्रिपुटी से भान होने वाली इस विषयाकार वृत्ति का समान प्रवाह स बहना आरम्भ न हो, किन्तु व्यवधान सहित विच्छिन्न हो अर्थात इस वृत्ति के बीच-बीच अन्य वृत्तियां भी आती रहें तब तक वह धारणा कहलायेगी। जब यह त्रिपुटी से भान होने वाली विपयाकार वृत्ति व्यवधान रहित हो जाय अर्थात अन्य विजातीय वृत्तियां बीच-वीच में न आवें, किंतु सदृश वृत्तियों का प्रवाह बना रहे तब तक वह ध्यान कहलाता है। जब इस व्यवधान रहित त्रिपुटी से भासने वाली विपयाकार वृत्ति में त्रिपुटी का भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूप से शून्य जैसा भासने लगें अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यान की अवस्था है, किंतु केवल ध्येय विषय के स्वरूप का ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

धारणा और ध्यान समाधि की ही प्रथम अवस्था है। इन तीनो के समुदाय को सयम कहा जाता है। जब धारणा ध्यान और समाधि एक ही विषय में करनी हो तब उसकी संज्ञा संयम होती है। जब संयम का अभ्यास परिपक्व हो जाता है तव समाधि प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिससे ध्येय का ज्ञान यथार्थ रूप से होने लगता है और विभिन्न प्रकार की विभूतियां सिद्ध होती है। अन्त में विवेक ख्याति का साक्षात् होने लगता है।

चित्त की स्थूल वृत्ति वाली भूमि जो नीची भूमि है पहले उसे विपय करना चाहिये। जैसे निशाना साधने वाले पहले स्थूल लक्ष्य के भेदन का अभ्यास करते हे। इसी प्रकार योगी को क्रम से पहले ग्राह्य फिर ग्रहण और फिर गृहीत आदि भूमियो मे संयम करना चाहिये।

वास्तव मे धारण ध्यान समाधि तीनो एक ही सयम रूप क्रिया के भाग है अर्थात किसी विषय मे चित्त को ठहराने का नाम धारणा है जब देर तक लगातार चित्त इसमें ठहरा रहे, तब वही ध्यान कहलायेगा, और जब वही ध्यान इतना सूक्ष्म और तल्लीनता के साथ हो जाय कि ध्यान करने वाले को ध्येय विषय के अतिरिक्त और कुछ भी सुध-बुध न रहे तब वही ध्यान की अवस्था समाधि कहलाती है। यह सयम की क्रिया चित्त के वशीकरण और आत्मोन्नति अर्थात सारी आध्यात्मिक भूमियों के विजय पर्यन्त विवेक ख्याति द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात स्वरूपावस्थिति के लाभार्थ है। किंतु इसके दुरुपयोग द्वारा अधोगति तथा आत्म अवनति की सम्भावना हो सकती है।

विभूतियां - योगशास्त्र में वर्णित विषयों में संयम करने से संयम की विभूतियो प्राप्त होती है। कुछ विभूतियों का वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया जा रहा है।

(1) **प्रत्ययस्य परिचित ज्ञानम्** - दूसरे के चित्तवृत्ति में साक्षात् करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है। जब योगी किसी के चेहरे के बाहरी चिन्हों अर्थात् नेत्र आदि में संयम है तो उसको उसके चित्त का साक्षात् होता है। उसको इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इस समय उसका चित्त राग द्वेष आदि सांसारिक वासनाओ से रगा है अथवा वैराग्ययुक्त है। परन्तु उसके राग द्वेष आदि के विषय नहीं जाने जा सकते हैं।

(2) **काय रूप संयमात् तद्ग्राह्य शक्ति स्तम्भे चक्षुः प्रकाशा सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्** - अपने शरीर के रूप मे संयम करने से रूप की ग्राह्य शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरों के ऑखों के प्रकाश से योगी के शरीर का संनिकर्ष न होने के कारण योगी के शरीर का छिप जाना होता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गध में संयम करने से उस-उस की ग्राह्य शक्ति रुक जाती है और उनके वर्तमान रहते हुए भी वे अपने विषय करने वाली इन्द्रियों से ग्रहण नही किये जा सकते।

(3) **मैत्रयादिषु बलानि** - मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा - चार भावनाये वतलायी गयी हैं इनमें से पहली तीन भावनाओं में साक्षात् पर्यत संयम करने से योगी का क्रमानुसार मैत्री, करुणा मुदिता बल बढ़ जाता है। जब योगी मैत्री में संयम करता हे तो सब प्राणियों का सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणा में संयम करने से दुःखियो के दुःख दूर करने की शक्ति आ जाती है। मुदिता में संयम करने से पक्षपाती नही होता। उपेक्षा एक अभावात्मक पदार्थ है इस कारण यह संयम का विषय नही है।

(4) **बलेषु हस्तिबलादीनि** - हाथी आदि के वलों में संयम करने से हाथी आदि के वल प्राप्त होते हैं। जिसके वल में संयम किया जाय वही वल प्राप्त होता है।

(5) **प्रवृत्यालोक न्यासात् सूक्ष्म ज्ञानम्** मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को जब योगी सयम द्वारा किसी सूक्ष्म जैसे अदृश्य परमाणु, ढके हुए जैसे भूमि के अन्दर दबी हुई खानें, दीवार की ओट में छिपी हुई वस्तुयें, शरीर के अन्दर के भाग आदि और दूरस्थ वस्तु पर जहाँ आँख नहीं पहुँचती, डालता है, तब उनका उसे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

(6) **भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्** - प्रकाशमय सूर्य में साक्षात् पर्यन्त संयम करने से भुवनों का यथावत् ज्ञान होता है।

(7) **चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्** - चन्द्रमा में संयम करने से ताराओं के व्यूह का ज्ञान होता है। पृथ्वी एक दिन में प्रायः दो-दो घण्टों में एक-एक राशि के हिसाब से बारह राशियों को एक वार देखा करती हैं एक-एक राशि में एक-एक मास तक निवास करती हुई बारह राशियों का चक्कर बारह मासों में अर्थात् एक वर्ष में करती है। परन्तु चन्द्रमा चूंकि अपने चन्द्रमास में एक बार पृथ्वी के चारों ओर घूमता है अर्थात् एक चन्द्र मास में बारह राशियों में एक बार घूम लेता है, इसलिये एक वर्ष मे चन्द्र बारह राशियों में बारह बार घूमेगा। इस कारण चन्द्र में संयम द्वारा योगी को राशिचक्र का ज्ञान होता है।

(8) **ध्रुवे तद् गतिज्ञानम्** - ध्रुव सब ताराओं में प्रधान और निश्चल है इसलिये उसमें संयम करने से प्रत्येक तारे की गति का ज्ञान नियत काल और नियत देश सहित हो जाता है।

उपरोक्त सिद्धियां बाह्य सिद्धियां है, आगे आभ्यान्तर सिद्धियों का वर्णन है।

(9) **नाभिचक्रेकायव्यूह ज्ञानम्** - नाभि चक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है। नाभिचक्र शरीर के मध्य में स्थित है सब ओर फैली हुई नाडियो आदि का विशेष स्थान है। इसलिये इसमें संयम करने से शरीर में रहने वाली वात, पित्त, कफ तीनो दोषों और त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चरबी, वीर्य - सातों धातुओं की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान होता है।

(10) **कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः** - जिह्वा के नीचे सूत के समान एक नस है, उसके नीचे कण्ठ है। उस कण्ठ के नीचे जो गढ़ा है उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस स्थान में प्राणादि का स्पर्श होने से पुरुष को भूख प्यास लगती है इसलिये इस कण्ठकूप में संयम द्वारा प्राणादि के स्पर्श की निवृत्ति हो जाने से योगी को भूख प्यास नही लगती।

(11) **कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्** - कण्ठकूप में नीचे छाती में कछुए के आकार वाली एक नाड़ी है इसे कूर्म नाड़ी कहते हैं। उसमें संयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है।

(12) **मूर्ध ज्योतिषि सिद्ध दर्शनम** शरीर क कपाल मे ब्रह्म रन्ध नामक एक छिन्द्र हे, उसम जो प्रकाश वाली ज्योति है वह मूधा ज्योति कहलाती है. उसम सयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं इस ज्योति का सम्बन्ध भृकुटि अर्थात् आज्ञाचक्र से है। इसलिये ब्रह्मरन्ध में प्राण तथा मन को स्थिर करने के पश्चात् जव आज्ञा चक्र में ध्यान किया जाता है तो इस मूर्धा ज्योति के सत्व गुण के प्रकाश मे सूक्ष्म जगत का अनुभव होने लगता है।

(13) **प्रातिभाद् वा सर्वम्** - प्रातिभ वह प्रकाश अथवा ज्ञान है जो विना किसी बाहर के निमित्त के स्वयं अंदर से प्राप्त होता है। यह विवेक ज्ञान का प्रथम रूप है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने का प्रथम ज्ञापक चिन्ह प्रभा है इसी प्रकार प्रमख्यान के उदय होने का प्रथम लिंग प्रातिभ ज्ञान है। जैसे सूर्य की प्रभा के उत्पन्न होने पर सब कुछ जाना जा सकता है, इसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी विना संयम के ही सव कुछ जान लेते हैं। प्रातिभ ज्ञान से, इससे पूर्व जो जो सयम वतलाये गये हैं, उन सवका ज्ञान हो जाता है।

(14) **हृदये चित्त संवित्** - हृदय कमल (अनाहत चक्र) में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है। शिव सार तंत्र मे कहा गया है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमयी ओंकार इसी स्थान में व्यक्त होता है।

(15) **सत्वपुरुषयोरत्यान्तासंकीर्णयोः प्रत्ययविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुष ज्ञानम्** - चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हे, इन दोनो की प्रतितियों का अभेद भोग है। उनमें से पदार्थ से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है, उसमे संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

चित्त परिणामी जड़ और भोग्यरूप है जवकि पुरुप निर्विकार चैतन्य और भोक्ता स्वरूप है। इस चित्त में पुरुष से प्रतिविम्वित होकर जो दुःख, सुख और मोहरूपी वृत्तिया का उदय होना है, यह प्रत्ययाविशेप है, क्योंकि इससे चित्त के धर्मसुख, दुःख और मोह आदि का चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुष में अध्यारोप होता है। यही प्रत्ययाविशप अर्थात चित्त और चित्त में प्रतिविम्बित चेतन्न के प्रत्ययों का अभेद भोग है।

यद्यपि सुख-दुःखादि के अनुभव का नाम भोग है और भोग का अनुभव करने वाला भोक्ता कहलाता है, ऐसा भोग - कर्तृत्व रूप भोक्तृत्व निर्विकार चेतन पुरुप मे भी वास्तव में सम्भव नहीं है तथापि चित्त के धर्म इस प्रत्यय रूप भोग, सुख दु खादि का पुरुष के प्रतिबिम्व द्वारा पुरुष में आरोप स्वरूप ही है। जैसे स्वच्छ, जल मे प्रतिविम्बित चन्द्रमा में जल के कम्पन से चन्द्रमा काँपता है, ऐसा कम्पन का आरोप

होता है वास्तव मे चन्द्रमा मे कम्पन नही होता है वैसे ही यह भोग चित्त का परिणाम हाने के कारण वास्तव म चित्त ही म होता है, परन्तु प्रतिबिम्ब द्वारा निर्विकार पुरुष मे सुख-दुःखादि का आरोप रूप भोग है। इसलिये आरोपित भोगवाला होने से पुरुष भोक्ता कहलाता है। ऐसा चित्त का परिणाम प्रत्ययस्वरूप भोग जड़ होने से परार्थ है और परार्थ होने से भोग्य है, क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। इस परार्थ जड़ भोग से भिन्न जो पुरुष का प्रतिबिम्ब रूप प्रत्यय है, वह स्वार्थ कहलाता है। वह पौरुषेय प्रत्यय रूप भोग किसी का भोग्य नही है। उस प्रतिबिम्ब रूप स्वार्थ प्रत्यय में संयम करने से पुरुष विषयक ज्ञान होता है अर्थात पुरुष को विषय करने वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चित्त के धर्म पुरुष प्रत्यय से पुरुष जाना जाता है, किंतु पुरुष ही चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ अपने स्वरूप को प्रकाशित करने वाले रूप प्रत्यय को देखता है, क्योंकि ज्ञाता पुरुष का वास्तविक स्वरूप चित्त द्वारा नहीं जाना जा सकता। पुरुष ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका निरुपण अगले सूत्रों मे किया गया है।

(16) **ततः प्रातिभ श्रावण वेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते** - उस स्वार्थ सयम के अभ्यास से, प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

1. **प्रातिभ** - मन में सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) व्यवहित (छिपी हुई) विप्रकृष्ट (दूरग्थ) अतीत और अनागत वस्तुओं के जानने की योग्यता।

2. **श्रावण** - श्रोत्तेन्द्रिय के दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता।

3. **वेदना** - त्वचा-इन्द्रिय की दिव्य स्पर्श जानने की योग्यता।

4. **आदर्श** - नेत्रेन्द्रिय की दिव्य रूप देखने की योग्यता।

5. **आस्वाद** - रसनेन्द्रिय की दिव्य रस जानने की योग्यता।

6. **वार्ता** - घ्राणेन्द्रिय की दिव्य गन्ध सूँघने की योग्यता।

ये छः सिद्धियां एकाग्र चित्त वालों को समाधि प्राप्त में विघ्न कारक हैं, क्योकि उनमें हर्ष गौरव आश्चर्यादि करने से समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान दशा मे विशेष फलदायक होने से सिद्धि रूप होती है। जैसे जन्म का कंगला, अत्यल्प द्रव्य को पाकर ही अपने आपको कृतार्थ समझने लगता है वैसे ही विक्षिप्त चित्त वालों को ही पुरुष ज्ञान से पूर्व होने वाले उपर्युक्त प्रातिभ आदि छः ऐश्वर्य सिद्धि रूप दिखने लगते हैं समाहित चित्त वाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्यों से दोष दृष्टि द्वारा उपराम होकर इनको समाधि में रुकावट जानकर अपने अंतिम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार के लिये स्वार्थ संयम का निरंतर प्रमाद रहित अभ्यास करता है।

(12 **मूर्ध ज्योतिषि सिद्ध दर्शनम्** शरीर के कपाल में ब्रह्म रन्ध नामक एक छिन्द्र है, उसमे जो प्रकाश वाली ज्योति है वह मूर्धा ज्योति कहलाती है उसमे सयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं इस ज्योति का सम्बन्ध भृकुटि अर्थात् आज्ञाचक्र से है। इसलिये ब्रह्मरन्ध में प्राण तथा मन को स्थिर करने के पश्चात् जब आज्ञा चक्र में ध्यान किया जाता है तो इस मूर्धा ज्योति के सत्व गुण के प्रकाश मे सूक्ष्म जगत का अनुभव होने लगता है।

(13) **प्रातिभाद् वा सर्वम्** - प्रातिभ वह प्रकाश अथवा ज्ञान है जो विना किसी बाहर के निमित्त के स्वयं अंदर से प्राप्त होता है। यह विवेक ज्ञान का प्रथम रूप है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने का प्रथम ज्ञापक चिन्ह प्रभा है इसी प्रकार प्रसख्यान के उदय होने का प्रथम लिंग प्रातिभ ज्ञान है। जैसे सूर्य की प्रभा के उत्पन्न होने पर सब कुछ जाना जा सकता है, इसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी विना संयम के ही सब कुछ जान लेते हैं। प्रातिभ ज्ञान से, इससे पूर्व जो जो सयम वतलाये गये हैं, उन सवका ज्ञान हो जाता है।

(14) **हृदये चित्त संवित्** - हृदय कमल (अनाहत चक्र) में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है। शिव सार तंत्र में कहा गया है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमयी ओंकार इसी स्थान में व्यक्त होता है।

(15) **सत्वपुरुषयोरत्यान्तासंकीर्णयोः प्रत्ययविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुष ज्ञानम्** - चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न है, इन दोनो की प्रतितियों का अभेद भोग है। उनमें से पदार्थ से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है, उसमे संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

चित्त परिणामी जड़ और भोग्यरूप है जबकि पुरुष निर्विकार चैतन्य और भोक्ता स्वरूप है। इस चित्त में पुरुष से प्रतिविम्बित होकर जो दुःख, सुख और मोहरूपी वृत्तियो का उदय होना है, यह प्रत्ययाविशेष है, क्योंकि इससे चित्त के धर्मसुख, दुःख और मोह आदि का चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुष में अध्यारोप होता है। यही प्रत्ययाविशेष अर्थात चित्त और चित्त में प्रतिविम्वित चेतन के प्रत्ययों का अभेद भोग है।

यद्यपि सुख-दुःखादि के अनुभव का नाम भोग है और भोग का अनुभव करने वाला भोक्ता कहलाता है, ऐसा भोग - कर्तृत्व रूप भोक्तृत्व निर्विकार चेतन पुरुष मे भी वास्तव में सम्भव नहीं है तथापि चित्त के धर्म इस प्रत्यय रूप भोग, सुख दुःखादि का पुरुष के प्रतिविम्ब द्वारा पुरुष में आरोप स्वरूप ही है। जैसे स्वच्छ, जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में जल के कम्पन से चन्द्रमा कॉपता है, ऐसा कम्पन का आरोप

होता है वास्तव मे चन्द्रमा मे कम्पन नही होता है वैसे ही यह भोग चित्त का परिणाम होने क कारण वास्तव मे चित्त ही म होता है, परन्तु प्रतिबिम्ब द्वारा निर्विकार पुरुष मे सुख-दुःखादि का आरोप रूप भोग है। इसलिये आरोपित भोगवाला होने से पुरुष भोक्ता कहलाता है। ऐसा चित्त का परिणाम प्रत्ययस्वरूप भोग जड़ होने से परार्थ है और परार्थ होने से भोग्य है, क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। इस परार्थ जड़ भोग से भिन्न जो पुरुष का प्रतिबिम्ब रूप प्रत्यय है, वह स्वार्थ कहलाता है। वह पौरुषेय प्रत्यय रूप भोग किसी का भोग्य नही है। उस प्रतिविम्ब रूप स्वार्थ प्रत्यय में संयम करने से पुरुष विषयक ज्ञान होता है अर्थात पुरुप को विषय करन वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चित्त के धर्म पुरुष प्रत्यय से पुरुष जाना जाता है, किंतु पुरुप ही चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ अपन स्वरूप को प्रकाशित करने वाले रूप प्रत्यय को देखता है, क्योकि ज्ञाता पुरुष का वास्तविक स्वरूप चित्त द्वारा नहीं जाना जा सकता। पुरुष ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका निरुपण अगले सूत्रों में किया गया है।

(16) **ततः प्रातिभ श्रावण वेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते** - उस स्वार्थ सयम के अभ्यास से, प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

1. **प्रातिभ** - मन में सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) व्यवहित (छिपी हुई) विप्रकृष्ट (दूरस्थ) अतीत और अनागत वस्तुओं के जानने की योग्यता।

2. **श्रावण** - श्रोत्तेन्द्रिय के दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता।

3. **वेदना** - त्वचा-इन्द्रिय की दिव्य स्पर्श जानने की योग्यता।

4. **आदर्श** - नेत्रेन्द्रिय की दिव्य रूप देखने की योग्यता।

5. **आस्वाद** - रसनेन्द्रिय की दिव्य रस जानने की योग्यता।

6. **वार्ता** - घ्राणेन्द्रिय की दिव्य गन्ध सूँघने की योग्यता।

ये छः सिद्धियां एकाग्र चित्त वालों को समाधि प्राप्त में विघ्न कारक हैं, क्योकि उनमें हर्ष गौरव आश्चर्यादि करने से समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान दशा में विशेष फलदायक होने से सिद्धि रूप होती है। जैसे जन्म का कंगला, अत्यल्प द्रव्य को पाकर ही अपने आपको कृतार्थ समझने लगता है वैसे ही विक्षिप्त चित्त वालों को ही पुरुष ज्ञान से पूर्व होने वाले उपर्युक्त प्रातिभ आदि छः ऐश्वर्य सिद्धि रूप दिखने लगते हैं समाहित चित्त वाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्यों से दोष दृष्टि द्वारा उपराम होकर इनको समाधि में रुकावट जानकर अपने अंतिम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार के लिये स्वार्थ संयम का निरंतर प्रमाद रहित अभ्यास करता है।

आगे क्रियारूप सिद्धियों का वर्णन है -

(17) **बन्ध कारण शैथिल्यात्प्रचार संवेदवाच्च-चित्तस्यपरशरीवेश:** - बन्ध के कारण के शिथिल करने से और घूमने के मार्ग के जानने से चित्त का दूसरे के शरीर में आवेश होता है। चित्त का शरीर में बन्ध रहने का कारण सकाम कर्म ओर उनकी वासनायें हैं। योगी जव धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से सकाम कर्मो को छोडकर निप्काम कर्मों का आसरा लेता है तो इन बन्धों के कारणों को ढीला कर दता है और नाड़ियों में संयम करके सूक्ष्म शरीर के उनमें आने जाने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है तब वह अपने शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकालकर किसी दूसरे शरीर में डाल मकने मे समर्थ हो जाता है।

(18) **उदान जयाज्जल पंककंटकादिष्व संग उत्क्रान्तिश्च** - उदान वायु मे सयम करने से जल, कीचड़ कॉटों आदि में असंग रहना और उर्ध्व गति होती है। उदान वायु ऊपर की गति का हेतु है। इसी के द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से मम्वन्ध है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर इसी उदान द्वारा स्थूल शरीर से वाहर निकलता है। जव योगी संयम द्वारा उदान को जीत लेता है तो उसका शरीर रुई की तरह हल्का हो जाता है। वह पानी, कीचड़, कॉटो आदि पर चल सकता है क्योंकि वह अपने शरीर को हल्का किये हुए ऊपर उठाये रखता है।

(19) **समानजयाज्ज्वलम्** - जव योगी समान वायु को वश में कर लेता हे, तव समान प्राण के अधीन शारीरिक अग्नि के उत्तेजित होने से उसका शरीर अग्नि के समान चमकता हुआ दिखायी देता है।

(20) **बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः** - मन को शरीर से बाहर धारण करना 'विदेह वृत्ति' तथा मन की ''विदेहा धारणा' कहलाती हे। जव तक मन शरीर के अन्दर ही रहे पर उसे वृत्ति मात्र से बाहर ही धारण किया जाय तव तक वह कल्पिता कहलाती है। अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर विना कल्पना के मन शरीर के वाहर यथार्थ रूप से स्थित हो जाता है, तव विदेहा वृत्ति अकल्पिता कहलाती है। यह योगी को पर शरीर-आवेश तथा लोक लोकान्तरों में सूक्ष्म शरीर से भ्रमण करने में सहायक होती है। इन दोनों मे कल्पित विदेहा-धारणा साधन है और अकल्पित विदेह-धारणा साध्य है। क्योंकि पहले कल्पित विदेहा धारणा का अभ्यास किया जाता है तत्पश्चात् अकल्पित विदेहा धारणा को साधा जाता है। इसके अभ्यास से चित्त के प्रकाश को रोकने वाले आवरण, अविद्या आदि क्लेश, कर्म विषयक आदि मल जो रजोगुण के मूलक हैं, नष्ट हो जाते हैं।

साधना के प्रारम्भिक चरण -

(1) **साधक के गुण** - आप योग की साधना प्रारम्भ करने जा रहे हैं। क्या आप इस योग्य हैं? क्या आपके अन्दर एक साधक के सभी गुण हैं? यह सब जानने के लिये स्वयं का विश्लेषण कीजिये और पूरी ईमानदारी से निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये।

(1) क्या आप स्वयं को चरित्रवान कह सकते हैं?

(2) क्या आप सदा सत्य भाषण करते हैं और असत्य को पाप समझते हैं?

(3) क्या आप ईर्ष्यालु व्यक्ति हैं?

(4) क्या आपके हृदय में किसी के प्रति द्वेष, शत्रुता एवं प्रतिशोध की भावना है?

(5) क्या आप आत्म प्रशंसा एवं ख्याति के लिये ही तो साधना मार्ग पर नही चल रहे हैं।

(6) आपके मन में लिप्सा एवं स्वार्थ की भावना तो नही? कहीं ऐसा तो नही कि इस विद्या का उपयोग आप धनोपार्जन के लिये कर रहे हैं?

(7) क्या आपके अन्दर दृढ़ विश्वास है?

(8) आप दुर्बल मस्तिष्क वाले व्यक्ति तो नही? क्या आप कठिन से कठिन परिश्रम करने को तैयार हैं?

(9) आप निराशावादी हैं या आशावादी? क्या आप कर्म के सिद्धान्त पर पूरी तरह विश्वास रखते हैं?

(10) क्या आप अपने कार्यो को कल पर टाल देते हैं?

(11) क्या आप अपने सकल्पो को पूरा करते हैं? या प्रारम्भ कर बीच में छोड देते हैं? अथवा कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व इरादा वदल देते हैं?

आप साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व आत्म विश्लेषण करें और स्वय निर्णय करे कि क्या आप इस साधना के योग्य हैं? यदि हाँ तो संयमों की सिद्धिया आपको अवश्य ही प्राप्त होगी। यह तो सच है कि साधना का मार्ग अत्यंत कठिन होता है किन्तु दृढ़ संकल्प वाले साहसी व्यक्ति न तो कठिनाइयों से घवराते हैं और न ही विघ्न बाधाओं की परवाह करते हैं।

उपरोक्त प्रश्नों के विश्लेषण में यदि आप नकारात्मक उत्तर पाते हैं अर्थात

विश्राम के क्षणो मे भी कल्पना करे कि आपके मानस पटल पर धीरे धीरे एक ज्योति प्रकट हो रही है अथवा आपके अंत:करण से गहरे नीले रंग का प्रकाश फूट रहा है। वलपूर्वक ऐसा प्रयास करें कि वह प्रकाश आपको दिखायी देता रहे उसे दृष्टि से ओझल न होने दें। इस क्रिया में आपकी आँखें बन्द रहेंगी। नित्य प्रति साधना के पूर्व यह अभ्यास करें।

कुछ दिनों के पश्चात आपको अनुभव होगा कि आप जाग्रत अवस्था में रहते हुए भी जाग्रत नहीं है। ऐसा अनुभव होगा कि आप किसी ऐसे लोक में विचरण करते रहे हैं जिसमें गहरे नीले रंग का प्रकाश व्याप्त है। इस अभ्यास से आपको अलौकिक शक्ति प्राप्त होगी। इस प्रारम्भिक साधना में सफलता अर्जित करने के बाद आगे की साधनाओं में प्रयास करने पर आप स्वतः ही क्रमशः आगे बढ़ते चले जायेंगे।

❑❑

समाधि और कैवल्य

समाधि के भेद - निरुद्ध चित्त की दो अवस्थायें होती हैं। एक सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि - चित्त की अनेक वृत्तियां होती हैं जब चित्त किसी एक वस्तु पर एकाग्र होकर लगता है, तब उसकी वही वृत्तिमात्र जाग्रत रहती है, अन्य सभी वृत्तियां क्षीण होकर उसी एक वृत्ति को प्रौढ़ बनाती हैं। उसी एक वृत्ति में ध्यान लगाने से उसमें प्रज्ञा का उदय होता है और उससे अन्य वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं। इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस समाधि में कोई न कोई आलम्बन रहता है और समाधि की अवस्था में उन आलम्बनों का भान होता है। सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

वितर्कानुगत ग्राह्य समाधि - वस्तु स्थूल और सूक्ष्म होते हैं जब चित्त स्थूल विषय से सम्बद्ध होकर उसके आकार का हो जाता है तब उसे वितर्क कहते हैं। इस समाधि में भावना द्वारा ग्राह्यरूप किसी स्थूल विषय, विराट् महाभूत सूर्य, चन्द्र, स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रिय, देव प्रतिमा आदि पर चित्त को ठहराकर, संशय विपर्यय रहित उसके यथार्थ स्वरूप को सारे विषयों सहित जो पहले कभी न देखे, न सुने और न अनुमान किये थे, साक्षात् किया जाय, वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है।

इसके भी दो भेद सवितर्क और निर्वितर्क समाधि है। सवितर्क समाधि में शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान तीनों एक होकर भावना मे रहते हैं। शब्द को भावना से रहित केवल अर्थ मात्र की भावना हो उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

विचारानुगत ग्राह्य समाधि - वितर्क अनुगत द्वारा जब चित्त वस्तु के स्थूल आकार को साक्षात् कर लेता है तब उसकी दृष्टि आगे बढ़ती है। चित्त का आलम्बन

जव सूक्ष्म है अर्थात सूक्ष्म वस्तु के सम्बन्ध से सूक्ष्माकारित होता है तब उस विचार कहते हैं। जिस भावना द्वारा ग्राह्य रूप स्थूल भूतो के कारण पाँचों सूक्ष्म भूतों का पाँचों तन्मात्राओं तक तथा शक्ति मात्र इन्द्रियों का यथार्थ रूप संशय विपर्यय रहित सारे विषयों सहित साक्षात् किया जाय वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है। इसके भी दो भेद हैं सविचार - देश काल और धर्म की भावना सहित और निर्विचार देश काल और धर्म के भावना से रहित केवल अर्थ मात्र।

आनन्दानुगत ग्रहण रूप समाधि - विचारानुगत के निरंतर अभ्यास से जब चित्त की एकाग्रता इतनी वढ़ जाय कि शक्ति मात्र इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के कारण अहंकार को उसमें धारण करके साक्षात् किया जाय तो उसको आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

आनन्द नाम रखने का कारण यह है कि सत्व गुण प्रधान अहंकार आनन्द रूप है तथा सूक्ष्मता के तारतम्य को साक्षात करते हुए योगी का चित्त सत्व गुण के बढने से आनन्द से भर जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा ग्राह्य विषय, उसका विषय नहीं रहता है किन्तु आनन्द ही आनन्द उसका विषय वन जाता है और 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है।

जो योगी इसी को अंतिम ध्येय समझकर इसी में संतुष्ट हो जाते हैं और आगे नही बढ़ते हैं उनका देह से तो अध्यास छूट जाता है परन्तु स्वरूपावस्थिति नही होती। शरीर के त्यागने के पश्चात वे लम्बे समय तक कैवल्यपद जैसे आनन्द को भोगते है। वे विदेह कहलाते हैं।

अस्मितानुगत ग्रहतृ समाधि - चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें बीज रूप से अहंकार रहता है अर्थात् चित्त बीजरूप अहंकार और अहंकारोपाधित पुरुष, जहाँ से पुरुष और चित्तमें अभिन्नता आरोप होती है उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता अहंकार का कारण है, इसलिये उससे सूक्ष्मतर है जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ जाय कि अस्मिता में धारण करने से उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगे तब उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

इसमे आनन्दानुगत वाली वृत्ति 'मैं सुखी हूँ', मै सुखी हूँ अधिक निर्मल होकर केवल 'अस्मि' 'अस्मि' यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्ति वाली अवस्था बडी मनोरंजक होती है। बहुधा योगी इसी को आत्मस्थिति समझकर इसी में संतुष्ट हो जाते हैं और आगे बढ़ाने का यत्न नहीं करते उनका आत्माध्यास अहंकार से तो छूट जाता है किन्तु अस्मिता में बना रहता है। शरीरान्त होने पर विदेहों से अधिक लम्बे समय तक ये योगी कैवल्य पद जैसा आनन्द भोगते हैं उन्हें प्रकृतिलय कहते है।

ये चारों प्रकार की समाधियां सालम्बन और सबीज कहलाती हैं सालम्बन इसलिये कि ये किसी ध्येय का आलम्बन बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही बीज है। जब योगी किसी स्थूल ध्येय को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त ठहराता है तब पहले स्थूल वस्तु को देखता है। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके सूक्ष्म अवयव भासते जाते हैं, यहाँ तक कि स्थूल भूतों के कारण सूक्ष्म भूतों का भी साक्षात् होने लगता है। एकाग्रता और अधिक बढ़ने पर यह सूक्ष्म भूत विषयक ग्राह्य वृत्ति भी बन्द हो जाती है, और तन्मात्राओं के कारण ग्रहण रूप सत्त्व प्रधान अहंकार का उसकी आनन्द रूप प्रिय मोद प्रमोद आदि वृत्तियों से साक्षात् होता है। एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्त्व गुण की वृद्धि के साथ-साथ यह आनन्द रूप वाली अहंकार की वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है। यहाँ तक कि अहंकार के कारण अस्मिता का अहंकार से रहित उसकी वृत्ति अस्मि, अस्मि से साक्षात् होने लगता है, अर्थात मैं हूँ केवल यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्ति की सूक्ष्मता में पुरुष और चित्त मे भिन्नता उत्पन्न करने वाली विवेक ख्याति रूपी वृत्ति का उदय होता है। इस विवेक ख्याति में भी आत्मस्थिति का अभाव प्रतीत कराने वाली परवैराग्य वृत्ति नेति नेति, यह स्वरूपावस्थिति नही है यह आत्मस्थिति नही है के अभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि - सम्प्रज्ञात की अवस्था में प्रज्ञा का उदय होता है। इसमें आलम्बन रहता है और ज्ञान ज्ञाता तथा ज्ञेय इन तीनों की भावना बनी रहती है। परन्तु जब ये तीनो भावनायें अत्यंत एकीभूत हो जाती हैं, सभी वृत्तियां परम् वैराग्य से निरुद्ध हो जाती हैं, एक प्रकार से आलम्बन का अभाव हो जाता है संस्कार मात्र शेष रहा जाता है। उस समाधि को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसमें क्लेश तथा कर्माशय नही रहते इसलिये इसे इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

चित्त का परिणाम चार प्रकार का होता है, व्युत्थान, समाधि-प्रारम्भ, एकाग्रता और निरोध।

(1) मूढ़ तथा क्षिप्त चित्त की भूमियों में जब तम तथा रज प्रधान रूप से होते हैं तब व्युत्थान के संस्कारों का परिणाम होता है।

(2) विक्षिप्त-भूमि में सत्त्व की प्रबलता से समाधि प्रारम्भ के संस्कारों का परिणाम होता है।

(3) उसके पश्चात सत्त्व गुण की वृद्धि से एकाग्रता भूमि में एकाग्रता के संस्कारों का परिणाम होता है।

(4) निरोध भूमि में निरोध के संस्कारों का परिणाम होता है।

व्युत्थान से उत्पन्न हुए संस्कार समाधि प्रारम्भ से उत्पन्न होने वाले संस्कारो से नष्ट हो जाते हैं। समाधि-प्रारम्भ से उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से और एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले संस्कार निरोध से उत्पन्न होने वाले संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं। ये निरोध के संस्कार ही संस्कार शेष हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं। जब निरोध से उत्पन्न हुए सस्कार एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाते है तब इस संस्कार शेष निवृत्ति का नाम कैवल्य है।

निरोधस्थिति वाले योगी के कर्म भोग निवृत्ति अथवा परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए प्राणिमात्र के कल्याणार्थ ईश्वर निमित्त होते हे। इन निष्काम ओर आसक्ति रहित कर्मों के करने में उनकी व्युत्थान की स्थिति नहीं होती है स्थिति तो निरोध की ही रहती है। उसके कर्म निष्काम भाव से और आसक्ति तथा वासना रहित होते हैं, इसिलये आगे के लिये भोग और बन्धन के संस्कारों के उत्पादक नही होते। इस स्वरूप स्थिति को गीता में समाधिस्थित और ऐसे योगी को स्थितप्रज्ञ के नाम से वर्णन किया गया है।

स्थितप्रज्ञ - स्थितप्रज्ञ योगी सत्व गुण के प्रभाव से आनन्दमय कोश अर्थात कारण शरीर में अंतर्मुख होता है, इसलिये ज्ञान के प्रकाश में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है, यह इसका जागना है। जाग्रत अवस्था में सब प्राणी व्युत्थान दशा में रहते हुए सांसारिक कार्य करते हैं, किन्तु स्थितप्रज्ञ योगी सब कार्यो को अपने भोग निवृत्ति तथा ईश्वर की ओर से कर्तव्य मात्र समझता हुआ ममता और अहंता से रहित अनासक्ति और निष्काम भाव से करता है। इससे उत्पन्न होने वाली वासनाओं तथा ममता और अहंता के भावो से स्पर्श न किया हुआ अंतर्मुख ही बना रहता है। ये योगी जो स्वरूपास्थिति को प्राप्त कर चुके है। वे दो प्रकार के होते हैं - प्रथम जिनके कर्म केवल भोग निवृत्ति के लिये ही होते है और दूसरे वे योगी जिनके कर्म भोग निवृत्ति तथा निष्काम आसक्ति रहित परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ ईश्वर को अर्पित होते हैं। इसी के अनुसार इन दो प्रकार के योगियों की मुक्ति भी दो प्रकार की होती है।

प्रथम प्रकार के योगियों की मुक्ति में चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण मे लीन हो जाते हैं, जो सांख्य और योग का कैवल्य है। दूसरे प्रकार वालों की मुक्ति मे चित्तसत्व अपने स्वरूप सहित ईश्वर के विशुद्धमय सत्व चित्त में जिसका दूसरा नाम आदित्यालोक है लीन रहता है।

पिछले अध्याय में समाधि में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न संयम और उसकी सिद्धियों का वर्णन किया गया है। अब संयम द्वारा दर्शन के उपयोगी सबीज और निर्बीज समाधि की सिद्धि में विविध उपायों का क्रमानुगत वर्णन किया जा रहा है।

(1) **स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्व संयमाद् भूतजयः** - पाँचों भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म अन्वय और अर्थतत्व मे संयम करने से भूतों का जय होता है।

(1) **स्थूल** - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रूप है।

(2) स्वरूप - उपर्युक्त पाँचों भूतों का अपना-अपना नियत धर्म जिनसे ये जाने जाते हैं - जैसे पृथ्वी की मूर्ति और गंध, जल का स्नेह, अग्नि की उष्णता, वायु की गति या कम्पन और आकाश का अवकाश देना स्वरूप है।

(3) **सूक्ष्म** - स्थूल भूतों के कारण गन्ध तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा और शब्द तन्मात्रा सूक्ष्म रूप हैं।

(4) **अन्वय रूप** - सत्व, रजस् और तमस् तीनो गुण अपने धर्मो क्रमश प्रकाश, क्रिया, और स्थिति से पाँचों भूतो में अन्वयी भाव से मिले होते हैं अन्वयी रूप है।

(5) **अर्थवत्व** - पुरुष का भोग अपवर्ग है। जिस प्रयोजन को लेकर ये पाँचो भूत कार्य में लगे हुए हैं वह अर्थवत्व रूप है। इस प्रकार पाँचों भूतों के धर्म लक्षण और अवस्था भेदों से पचीसों रूपों में क्रम से साक्षात् पर्यन्त संयम करने से पाँचो भूतो का सम्यक ज्ञान और उन पर पूरा वशीकार होता है।

(2) **ततोअणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिधातश्च।** - उस भूतजय से अणिमा आदि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है और उन पाँचो भूतों के धर्मो से रुकावट नहीं होती। ये आठ सिद्धियां निम्नवत् है।

(1) **अणिमा** - शरीर का सूक्ष्म कर लेना।
(2) **लघिमा** - शरीर का हल्का कर लेना।

ये सिद्धियां भूतों में संयम करने से प्राप्त होती हैं।

(3) **महिमा** - शरीर का बड़ा कर लेना।

(4) **प्राप्ति** - जिस पदार्थ को चाहें प्राप्त कर लेना।

(5) **प्राकाम्य** - बिना रुकावट के इच्छा पूर्ण होना। यह पाँचों भूतों के स्वरूप में संयम करने से होती है।

(6) **वशित्व** - पाँचों भूतों तथा भौतिक पदार्थों का वश में कर लेना। यह

भूतों के सूक्ष्म रूप में सयम कर लेन से हाता है

(7) **ईशितृत्व** - भूत-भौतिक पदार्थो के उत्पत्ति विनाश का सामर्थ्य यह सिद्धि अन्वय मे संयम करने से प्राप्त होती है।

(8) **यत्रकामावसायित्व** - प्रत्येक संकल्प का पूरा हो जाना अर्थात योगी के सकल्प के अनुसार भूतों के स्वभाव का अवस्थापन हो जाना। यह सिद्धि अर्थवत्व मे सयम करने से प्राप्त होती है। कामावसायी योगी शुद्धचित्त और न्यायकारी होते है। उनका संकल्प, ईश्वर संकल्प और उसकी आज्ञा के विपरीत नही होता है। इसलिये जब कभी वे अपने इस ऐश्वर्य को काम में लाते हैं तो वह ईश्वर संकल्प और उसके आज्ञानुसार न्याय और व्यवस्था के धारणार्थ ही होता है।

काय सम्पत - रूप लावण्य बल बज्र संहननत्वानि कायसम्पत् -

(1) **रूप** - मुखाकृति का अच्छा और दर्शनीय हो जाना।

(2) **लावण्य** - सारे अंगों में कान्ति का हो जाना।

(3) **बल** - बल का अधिक हो जाना।

(4) **बज्र संहननत्वानि** - शरीर के प्रत्येक अंग का वज्र के सदृश दृढ़ ओर पुष्ट हो जाना।

इस प्रकार रूप, लावण्य, वल और वज्र की सी बनावट की शरीर सम्पदा प्राप्त होती है।

इन पाँचो भूतों के कार्य योगी के विरुद्ध रुकावट नही डालते। शिला में योगी प्रवश कर जाता है। जल का स्नेह धर्म योगी को गीला नहीं कर सकता। अग्नि की उष्णता उसको जला नही सकती। वहनशील वायु उसको नहीं उड़ा सकती। अनावरण रूप आकाश में भी योगी अपने को ढक लेता है। और सिद्ध पुरुषों से भी अदृष्य हो जाता है।

(3) **ग्रहण स्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रिय जयः** - इन्द्रियों के पॉच रूपो, ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रिय जय होता है।

(1) **ग्रहण** - इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है।

(2) **स्वरूप** - सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व जैसे नेत्रों का नेत्रत्व आदि स्वरूप कहलाता है।

(3) **अस्मिता** - इन्द्रियों का कारण अहंकार, जिसका इन्द्रिय विशेष परिणाम है।

4 अन्वय सत्व रजस और तमस तीनो गुण जो अपने प्रकाश क्रिया स्थिति धर्म से इन्द्रियों में अन्वयी भाव से अनुगत हैं

(5) **अर्थवत्व** - इनका प्रयोजन पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाना।

इन पाँचो इन्द्रियों के रूप में क्रम से संयम करने से उस-उस रूप के जप द्वारा पाँचो रूपों का जय होने से योगी को इन्द्रिय जय प्राप्त होता है। इन्द्रिय जय से मनोजवित्व, विकिरण भाव और प्रधान का जय होता है।

(1) **मनोजवित्व** - ग्रहण में संयम करने से मन के समान शरीर का वेग वाला होना।

(2) **विकिरण भाव** - स्वरूप में संयम करने से विना शरीर की परवाह के इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति आ जाना।

(3) **प्रधान जय** - प्रकृति के सब विकारों का वशीकार अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करके प्राप्त किया जा सकता है। योग शास्त्र में ये तीनो सिद्धिया मधुप्रतीका कहलाती है। क्योंकि इन सिद्धियों के प्राप्त होने से योगी को प्रत्येक सिद्धि मे मधु समान स्वाद प्रतीत होता है। योग से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा (विवेकख्याति) का नाम मधु है। उस मधु का प्रतीक अर्थात् कारण जिससे प्रत्यक्ष किया जाय वह मधु प्रतीक है।

(4) **सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च** चित्त और पुरुष के भेद जानने वाले को सारे भावों का मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

सर्वभाव अधिष्ठातृत्वम् - गुणों का कर्तृत्व अभिमान शिथिल होने पर उनके सब परिणामों और भावों को पुरुष के प्रति स्वामी के समान बर्तता है।

सर्वज्ञातृत्व - वे गुण जो, अतीत अनागत और वर्तमान काल में धर्मी भाव से अवस्थित रहते हैं उनका यथार्थ विवेक पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्व कहलाता है।

गुणों का सबसे प्रथम परिणाम महतत्त्व अर्थात समष्टिचित्त है। इसी में सृष्टि के सब नियम बीज रूप से रहते है। पुरुषों के व्यष्टिचित्त गृहीतृ रूप हैं, जिनके द्वारा गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं। पुरुष चित्त का स्वामी ज्ञान स्वरूप है पर अविवेक के कारण चित्त में आत्मा का अध्यारोप हो जाता है। यही सर्व क्लेशो की मूल अविद्या है। सात्विक चित्त के प्रकाश में सयम करने से पुरुष और चित्त में भेद करने वाला विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसको विवेक ख्याति कहते हैं। इस विवेक ख्याति के हो जाने पर पुरुष अपने को चित्त से पृथक

देखता हुआ गुणों के परिणामों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उन पर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अधिष्ठाता होकर नियम में रखता है।

वास्तव में सर्वभाव अधिष्ठातृत्व पाँचों क्लेशों को दग्धवीज करके उन पर विजय प्राप्त कर लेना है, और सर्व ज्ञातृत्व यह साक्षात् कर लेना है कि सारा व्यवहार ग्रहण और ग्राह्य रूप तीनो गुणों में चल रहा है अर्थात् सारा दृष्य त्रिगुणात्मक है, आत्मा इनका द्रष्टा इनसे भिन्न 'असंग' 'निर्लेप' 'अजर' 'अमर' 'अप्रसवधर्मी', निष्क्रिय' 'ज्ञानस्वरूप' 'कूटस्थ' 'नित्य' है। विवेक ख्याति भी चित्त की ही अवस्था है, इसलिये वह भी अवान्तर फल है, इसका मुख्य फल कैवल्य है।

(5) **तद्वैराग्यादपि दोष बीज क्षये कैवल्यम्** - विवेक ख्याति से भी वैराग्य होने पर दोषों के बीजक्षय होने पर कैवल्य होता है। यह विवेक ख्याति जिससे योगी सर्वभाव अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता है। इसमें वह अपने शुद्ध अपरिणामी और ज्ञान स्वरूप त्रिगुणात्मक, परिणामी और जड़ चित्त से अलग करके देखता है चित्त ही का एक धर्म है, उसी का एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नही। इसलिये अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने के लिये इस विवेक ख्याति से भी विरक्त हो जाता है। इसी को परवैराग्य कहते हैं। जब परवैराग्य पूर्णतथा परिपक्व हो जाता है तब चित्त को बनाने वाले गुण पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाने के कार्य को पूर्ण करके अपने कारण में लीन हो जाते हैं, उसके कारण अविद्या आदि क्लेशों के सस्कार भी विवेक ख्याति द्वारा दग्ध बीज के सदृश उत्पत्ति के अयोग्य होकर लीन हो जाते हैं, तव आत्मा के सामने कोई दृश्य नही रहता। यह पुरुप का गुणों से अत्यन्त पृथक होकर अपने केवली स्वरूप में अवस्थित होना कैवल्य है।

योगी को उपर्युक्त प्रकार से विवेकज ज्ञान उत्पन्न हो अथवा न हो, चित्त और पुरुष दोनो की समान शुद्धि ही कैवल्य का कारण है। जैसा कि निम्नलिखित सूत्र में वर्णित है।

(6) **सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्य मिति** - चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है। सत्व चित्त का पुरुष के समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजस्-तमस का मैल यहाँ तक दूर हो जावे कि वह पुरुष और चित्त का भेद दिखाकर गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुष को अपना स्वरूप साक्षात् कराने योग्य हो जाये। पुरुष की शुद्धि यह है कि चित्त में आत्म अध्यास के कारण उसके भोग को जो उपचार से अपना समझ रहा था उसका पुरुष और चित्त के भेद के यथार्थ ज्ञान से सर्वथा अभाव हो जाये। यही कैवल्य है। संयम द्वारा प्राप्त कुछ

विभूतिया सिद्धिया कैवल्य प्राप्ति म महायक होती है परन्तु यह आवश्यक नही है कि सयमो द्वारा भिन्न भिन्न विभूतियो सिद्धिया का प्राप्त करन क पश्चात् ही कैवल्य प्राप्त हों। ये विभूतियां या भूमियां प्राप्त हों अथवा न हों, कैवल्य के लिये पुरुप और चित्त में यथार्थ रूप से भेद कराने वाला प्रसंख्यान अर्थात विवेक ज्ञान आवश्यक है। विवेक ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश से अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश क्लेश दग्ध वीज सहित नष्ट हो जाते है। इनके न रहने पर सकाम कर्मो का भी अभाव हो जाता है। सकाम कामों के अभाव से उसकी वासना से फल की भावना का वृक्ष भी पैदा नहीं होता। वृक्ष के अभाव में उसके फल, जन्म, आयु और भोग भी नहीं लगते। फिर उनका स्वाद, दुःख-सुख भी नही चखा जा सकता। इस प्रकार गुणो के प्रयोजन, पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाने का समाप्त हो जाता है, और वे (गुण) चरितार्थ होकर अपने कारण मे लीन हो जाते है और पुरुप अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है। कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपास्थिति, गुणाधिकार समाप्ति, परम धाम और परम पद एकार्थक शब्द हैं।

योग का महत्त्व

हमारे जीवन में योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जीवन के उद्देश्य हे - धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। ये चार पुरुषार्थ कहे जाते हैं। इनकी प्राप्ति के लिये शरीर और इन्द्रियों की एवं चित्त की शुद्धि आवश्यक है। इसके पश्चात चित्त को नियत्रित व स्थिर करना भी आवश्यक है। इन बातों के लिये योग शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है। चित्त वृत्ति के निरोध ही को योग कहते हैं। जब तक शरीर इन्द्रिय तथा मन साधक के वश में नही आते तब तक उद्देश्य की सिध्दि नही हो सकती। मोक्ष या दुःख निवृत्ति या आत्मा का साक्षात्कार ही तो परम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थों का परिचय निम्नवत है।

पुरुषार्थ - पुरुषार्थ शब्द दो शब्दों के योग से बना है पुरुष और अर्थ शब्द प्रयोजन लक्ष्य या साध्य बतलाता है। अतः पुरुष के प्रयोजन या लक्ष्य को ही पुरुषार्थ कहते हैं परन्तु यह किसी एक पुरुष का प्रयोजन या लक्ष्य नही है। यह सभी पुरुषो का प्रयोजन है अर्थात इन चार में से किसी एक की प्राप्ति के लिये ही कोई भी पुरुष कोई कार्य करता है। पुरुषार्थ चार माने गये हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

धर्म - धर्म शब्द बड़ा व्यापक है। धर्म वह है जिससे लोक यात्रा का सही निर्वाह हो। धर्म एक शाश्वत नियम है जिससे लोक और परलोक का संचालन होता है। यदि सृष्टि मे धर्म न हो तो इसका संचालन सुचारु रूप से नही हो पायेगा। धार्मिक आचरण को सदाचार कहा गया है। सदाचार सत्कर्म है जो सज्जनो का आचरण है। अहिंसा, सत्य, अस्तय अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, तप, आदि सभी सदाचार है। ये सदाचार शाश्वत नियम हे जिनसे सृष्टि की सुव्यवस्था बनी रही है। इस सदाचार से ही धर्म का जन्म होता है। यह सभी सुलक्षणों के अभाव को पूरा करता है। इसके आचरण से ही दीर्घ जीवन प्राप्त होता

ह तथा इससे सभी शारीरिक दोष समाप्त हो जाते है।

दूसरे प्राणियों के प्रति हमारा व्यवहार ही हमारे व्यक्तित्व का बोध कराता है हमारे किसी व्यवहार से किसी अन्य प्राणी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे यही हमारा कर्तव्य है। इसका आचरण ही धर्म है। इन्हे न करना अधर्म है सदाचार भी तीन प्रकार का है कायिक वाचिक और मानसिक।

कायिक या शारीरिक सदाचार - स्नान आदि करना, ब्रह्मचर्य, आदि का पालन अहिसा, परोपकार, देव आराधना आदि शारीरिक सदाचार माने जाते हैं।

वाचिक सदाचार - सत्य और प्रिय बोलना वेद शास्त्रों का अध्ययन ईश्वर भजन आदि वाचिक सदाचार है।

मानसिक सदाचार - दया धैर्य, सहानुभूति आदि मानसिक सदाचार है। इस प्रकार मनुष्य के सभी सत्कर्मों को सदाचार माना गया है।

मनु महाराज ने धर्म दो प्रकार का बताया है - प्रवृत्ति और निवृत्ति।

प्रवृत्ति धर्म लोक या परलोक में सकाम कर्मों का सम्पादन है। निवृत्ति धर्म ब्रह्म ज्ञान के लिये कर्मो का सम्पादन है। प्रवृत्ति कर्म से देवताओ के समान सुख मिलता है और निवृत्ति कर्म से पंच भौतिक शरीर से मोक्ष मिलता है। प्रवृति धर्म भी दो प्रकार के हैं सामान्य धर्म और विशेष धर्म सामान्य धर्म सबके लिये है परन्तु विशेष धर्म व्यक्ति के कार्य विशेष के अनुसार निर्धारित होते हैं।

सामान्य धर्म - सत्य, दम, तप, शौच, संतोष, लज्जा, आर्जव, ज्ञान, दया और ध्यान। अक्रूरता, अहिसा, अप्रमाद, संविभागिता, श्रद्धाकर्म, अतिथि सत्कार सत्य, अक्रोध, स्व पत्नी संतोष देशभक्ति, शौच, सदा असूया, आत्म ज्ञान और तितीक्षा आदि।

विशिष्ट धर्म - व्यक्ति के कार्य सामाजिक स्थिति, रिश्तों विशेष के कारण अनुसार उसके विषिष्ट धर्म है। जैसे पिता के प्रति पुत्र का धर्म, अध्यापक का अपने अध्यापन के प्रति धर्म पडोसी का पड़ोसी के प्रति धर्म आदि

आपत्तिकालीन धर्म - कभी-कभी व्यक्ति परिस्थितियों के कारण अपने स्वध र्म का पालन नही कर पाता तथा वह स्वधर्म से अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर पाता। ऐसे संकट और विपत्ति के समय में आपद् धर्म की व्यवस्था की गयी है।

अर्थ - द्वितीय पुरुषार्थ को अर्थ कहा गया है। अर्थ की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे सभी प्रयोजनों की सिद्धि होती है वही अर्थ है। अर्थ धर्म और काम का मूल है। चाणक्य के अनुसार तो अर्थ जीवन का प्रमुख प्रवर्तक है। इसका

कारण यह है कि सभी व्यक्ति स्वभाव से सुख की इच्छा करते हे सुख का मूल तो धर्म हे परन्तु धर्म का मूल तो अर्थ है क्योकि अर्थ के बिना तो धर्म भी सभव नही है। अर्थ के विना काम की भी सिद्धि नही की जा सकती है। अर्थ वृत्ति या आजीविका से प्राप्त किया जाता है। जिससे सभी लोगों की जीविका चले वही अर्थ है। विद्या भूमि, सोना, चाँदी, पशु, धन, धान्य आदि सभी अर्थ हैं। क्योकि इन सवों से मनुष्य की जीविका चलती है। धन के बिना जीवन नही चल सकता अतः अर्थोपार्जन के लिये मनुष्य को कोई न कोई वृत्ति अपनानी पड़ती है। निर्धन मनुष्य चाहे कितना ही गुणवान क्यों न हो वह अपनी स्त्री पुत्र और परिवार वालों से आदर नही प्राप्त कर सकता अतः मनुष्य को धन प्राप्त करने के लिये सर्वदा प्रयास करना चाहिये। निर्धन व्यक्ति के लिये सुन्दर नगर भी श्मशान है तथा धनवान के लिये जंगल भी राजधानी के समान है। अतः पवित्र साधनों से अर्थ उपार्जन अवश्य करना चाहिये। अर्थ उपार्जन का साधन पवित्र न हो तो उसका परित्याग करना चाहिये। अपवित्र साधनो से उपार्जित होने वाला धन तो सुख और परलोक दोनों का विरोधी होता है। इससे स्पष्ट है कि उपार्जन धर्म के आधार पर होना चाहिये। अर्थ का व्यय पाँच कार्यो मे होना चाहिये अर्थ का एक अंश धर्म के लिये दूसरा अश यज्ञ के लिये तीसरा अश धन की वृद्धि के लिये चौथा अंश भोग के लिये और पाँचवा अंश स्वजनों के लिये व्यय होना चाहिये। अर्थ जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है परन्तु इसका उपार्जन तथा उपभोग दोनो धर्म के आधार पर होना चाहिये। ऐसा न होने पर अर्थ अनर्थ का रूप ले लेता है। अर्थ का सबसे बड़ा दोष अहंकार है और दूसरा दोष मोह है। इनसे चारी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, मद, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, द्यूत, मद्य, दुर्व्यसन आदि अनर्थकारी दोष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य को इन दोषों से बचना चाहिये।

काम - इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा, तृष्णा एषणा आदि सभी को काम ही माना गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि के साथ उनका जो विषयों के साथ सम्बन्ध होता है और उस सम्बन्ध में जो आनन्द या सुख उत्पन्न होता है वही काम है। तात्पर्य यह है कि रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों के साथ नेत्र नासिका कान रसना और त्वचा आदि इन्द्रियों का सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप सुख या आनन्द का अनुभव होता है। यह विषय का आनन्द है। इसे ही काम कहते हैं।

काम सूत्र में काम की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि अभिमान सहित रस से ओत प्रोत सभी इन्द्रियों का आनन्द जिससे उत्पन्न होता है वही काम है। काम शब्द के तीन अर्थ हैं - 1. सुख 2. सुख के साधन 3. सुख की कामना। काम स्वयं सुखरूप है

यह सुख का प्रधान साधन भी माना जाता है तथा इसी को सुख के लिये इच्छित पदार्थ भी कहा गया है परन्तु इन सबो मे काम इन्द्रिय सुख के लिये अधिक प्रचलित है इन्द्रिय सुख इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उत्पन्न होता है जैसे स्त्री और पुरुष के सम्पर्क मे उत्पन्न होने वाला यौन सुख। यौन सुख सभी प्राणियों का स्वभाव है। इस यौन सुख के दो अंग है। 1. यौन सुख की प्राप्ति 2. सतान की उत्पत्ति। यह दूसरा अंग काम का बडा महत्त्वपूर्ण अंग है। संसार की परम्परा इसी से चलती है। यदि स्त्री और पुरुष में काम भावना न हो तो संसार की परम्परा समाप्त हो जायेगी।

काम शब्द का प्रयोग साधारणतः दो अर्थों में किया जाता है - व्यापक और सकुचित। व्यापक अर्थ में काम सभी प्रकार की इच्छा कामना अभिलाषा आदि की ओर संकेत करता है। अपने संकुचित अर्थ में काम केवल यौन सुख की ओर संकेत करता है। अपने व्यापक अर्थ में काम भावना पक्ष को संतुष्ट करता है। इसी कारण कला, ललित कला, चित्रकला, संगीत, कविता, सौंदर्य शास्त्र आदि सुख के बोधक होते हैं परन्तु काम केवल इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरित ही नही करता वरन् वह इन्द्रियों को नियंत्रित भी करता है। यौन सुख तो पशु और मनुष्य में समान ही है। परन्तु मनुष्य नियंत्रित सुख चाहता है वह भोग करता है परन्तु योग के साथ। काम केवल पाशविक सुख नही वरन् नियंत्रित भोग है। बिना नियंत्रण और व्यवस्था के काम को पुरुपार्थ नहीं कहा जा सकता।

मोक्ष - मोक्ष अंतिम पुरुपार्थ है। इसे परम् पुरुपार्थ कहा गया है। मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा पाना। इसे प्राप्त कर मनुष्य सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाता है। दुःख तीन है - आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक इन दुःखो के कारण ही व्यक्ति दुःखी रहता है। अतः इन दुःखों से मुक्ति या छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है। व्यक्ति अज्ञान या अविद्या के कारण ही दुःख प्राप्त करता है तथा ज्ञान या विद्या के कारण ही सुख प्राप्त करता है तथा ज्ञान या विद्या के कारण मुक्त हो जाता है। इसलिये अज्ञान को बन्धन का कारण माना गया है तथा ज्ञान को मोक्ष का कारण माना गया है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य अनित्य अपवित्र और अनात्म को नित्य पवित्र और आत्म समझने लगता है। ज्ञान से ही इसका नाश होता है।

कर्म विचार एवं अष्टांगिक मार्ग

कर्म हमारे जीवन का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। संसार की प्रत्येक वस्तु मे किसी न किसी रूप में क्रिया रहती ही है। अतः सभी प्राणी को कर्म करना पड़ता है। कर्म करने के अनन्तर उसके चित्त में संस्कार अर्थात कर्माशय उत्पन्न होता है और

वही वासना को उत्पन्न करता है फिर उसी वासना के अनुकूल जीव को उत्पत्ति होती है तथा संसार में उसके कर्म होते हैं। यह कर्म चक्र संसार में अबाधित गति से अनवरत चलता ही रहता है।

कर्म चार प्रकार का होता है - कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल तथा अशुक्ल-अकृष्ण।

दुर्जनों के कर्म कृष्ण होते हैं। बाह्य साधनों से उत्पन्न शुक्ल- कृष्ण कर्म साधारण लोगों के होते है। जीवन यापन करने के लिये उन्हें साधारण रूप से पुण्य और पाप दोनो ही काम करने पड़ते हैं। अतएव शुक्ल-कृष्ण कर्म के द्वारा दूसरों को पीडा देने से तथा उनके प्रति अनुग्रह दिखाने से उनका कर्माशय सञ्चित होता है। तपस्या स्वाध्याय तथा ध्यान में निरत लोगों के कर्म केवल मन के अधीन होते हे इसलिये उन्हे बाह्य साधनों की अपेक्षा नही होती। अतएव इस प्रकार के कर्मो द्वारा निश्चित रूप से न तो दूसरों को पीड़ा दी जा सकती है और न अनुग्रह ही दिखाया जा सकता है। इन कर्मो को शुक्ल कर्म कहते हैं। कर्म के फलों की इच्छा न होने से अशुक्ल तथा निषिद्ध कर्मों को न करने के कारण अकृष्ण योगियों के कर्म होते हैं।

साधारण लोगों के कर्म प्रथम तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों कर्मो से उसी प्रकार की वासनायें भी उत्पन्न होती है, जिस प्रकार के वे कर्म होते हैं। वासनाओं की लीला भी बहुत ही नियंत्रित तथा विचित्र होती है। कभी भी कोई फल भोग बिना उसकी वासना के नही होते। देश और काल इस नियम में बाधा नहीं देते। कोई भी कर्म फल आकस्मिक नहीं होता। मरने के पश्चात् ही किसी का जन्म पूर्व वासनाओं की सहायता के विना नहीं होता। जिस योनि में जिसका जन्म होने को होता है उम योनि में कर्म फलों के भोग करने के योग्य पूर्व-पूर्व जन्मान्तरों में किये हुए तदनुरूप कर्मो से उत्पन्न वासनायें अभिव्यक्त हो जाती हैं। ये वासनायें, हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन के द्वारा स्थिर रहती हैं। इनके न रहने पर अर्थात नाश होने से नही रहती।

हेतु - धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग और दुःख से द्वेष, इन दोनो से प्रयत्न जिसके कारण मन में वचन में तथा शरीर में चेष्टायें होती हैं, जिनके द्वारा जीव किसी को अनुग्रहीत करता है या पीड़ा देता है। इससे धर्म और अधर्म, सुख और दुःख तथा राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से इन छः शलाकाओं के सहारे यह संसार चक्र चलता रहता है। यही संसार चतुः वासनाओं का हेतु है। प्रतिक्षण क्रियाशील इस संसार चक्र की नेत्री 'अविद्या' है। यही सभी क्लेशों का मूल हे इसलिये यही वासनाओं की वास्तविक हेतु है।

फल - जिसको आश्रय या लक्ष्य मानकर उपर्युक्त धर्म आदि की विद्यमानता हो वही फल है।

आश्रय - साधिकार मन वासनाओं का आश्रय है। अधिकार से च्युत निराश्रय होकर रहने वाले मन में वासना नही रह सकती।

आलम्बन - अभिमुख से प्राप्त वस्तु जिस वासना को उत्पन्न करे वही उस वासना का आलम्बन होता है।

इस प्रकार हेतु आदि ही वासना को उत्पन्न करते हैं और इनके न होने से वासना उत्पन्न नहीं होती।

संस्कार - कर्म करने के पश्चात उससे कर्म संस्कार या कर्माशय बनता है। ये सस्कार पुण्यात्मक या अपुण्यात्मक होते हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह से उत्पन्न होते हैं। इनमें तीव्र वैराग्य से की गयी तपस्या अथवा ईश्वर देवता, महर्षि एव महानुभावों की आराधना से उत्पन्न कर्माशय पुण्यात्मक होते हैं। ये सद्यः अपना फल देते हैं। उसी प्रकार तीव्र अविद्या आदि क्लेशों से भयभीत व्याधिग्रस्त, दीन, शरणागत तथा महानुभावों के प्रति बारंबार अपकार करने से पापात्मक कर्माशय उत्पन्न होते हैं। ये भी सद्यः अपना फल देते है।

उपरोक्त संसार चक्र से मुक्त होने के लिये बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। जो सर्वसाधारण के लिये सरल और आचरणीय है। अष्टांगिक मार्ग के वर्णन से पहले चार आर्य सत्य जान लेना आवश्यक है। ये इस प्रकार है। 1. ससार दुःखमय है 2. दुःखों का कारण है 3. दुःख का नाश होता है 4 दुःखों के नाश के लिये उपाय भी हैं। इन्ही चारों बातों को समझाने के लिये तत्व ज्ञान होने के बाद भी बुद्ध ने अपने शरीर की रक्षा की। इसी उद्देश्य से बुद्ध ने सारनाथ आदि स्थानों में जाकर लोगों को उपदेश दिया। उन्हें व्यावहारिक जगत का पूर्ण ज्ञान था और व्यावहारिकता के साथ चलने से ही सर्व-साधारण की भलाई होगी, इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था। यह भी उनके मन में निश्चित था कि कर्तव्य पथ पर चलकर उपासना के द्वारा तपस्या की सहायता से अंतःकरण की शुद्धि लोग करे पश्चात आत्मा के सम्बन्ध में सभी बातें लोग स्वयं समझ जायेंगे। इसलिये बुद्ध न लोगों को कर्म करने की शिक्षा पहले दी। अगली पंक्तियों में दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् का अष्टांगिक मार्ग प्रस्तुत है।

दुःख निरोध गामिनीप्रतिपद - प्रतिपद का अर्थ है मार्ग। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है उस तक पहुँचने वाले मार्ग का नाम अष्टांगिक मार्ग है। आठ अंग इस प्रकार है।

(1) सम्यक दृष्टि (2) सम्यक संकल्प (3) सम्यक वाचन (4) सम्यक कर्मान्त (5) सम्यक आजीविका (6) सम्यक व्यायाम (7) सम्यक स्मृति (8) सम्यक समाधि

यह मार्ग हमारे आचार का चरम साधन है। इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखों का हठात् नाश कर लेता है। इसलिये यह समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है।

(1) **सम्यक दृष्टि -** दृष्टि का अर्थ ज्ञान है। सत्कार्य के लिये ज्ञान की भित्ति आवश्यक होती है। आचार और विचार का परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ होता है। विचार की भित्ति पर आचार खडा है। इसलिये इस आचार मार्ग में सम्यक दृष्टि पहला अग मानी गयी है। जो व्यक्ति अकुशल को तथा अकुशल मूल को जानता है, कुशल को और कुशल मूल को जानता है वही सम्यक दृष्टि से सम्पन्न माना जाता हे। कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैं कुशल (भले) और अकुशल (बुरे) इन दोनो को भली प्रकार जानना सम्यक दृष्टि कहलाती है।

काय कर्म	**अकुशल**	**कुशल**
	1. प्राणातिपात (हिंसा)	1. अहिंसा
	2. चोरी	2. अचौर्य
	3. मिथ्याचार	3. अव्यभिचार
वाचिक कर्म	4. मृषावचन (झूठ)	4 अमृषा वचन
	5. पिशुन वचन (चुगली)	5. अपिशुन वचन
	6. परुष वचन (कटु वचन)	6. अकटु वचन
	7. सम्प्रलाप (बकवाद)	7. असम्प्रलाप
मानस कर्म	8. अभिध्या (लोभ)	8. अलोभ
	9. व्यापाद (प्रतिहिंसा)	9. अप्रतिहिंसा
	10. मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)	10. अमिथ्या दृष्टि

अकुशल मूल है लोभ, दोष तथा मोह। इनसे विपरीत कुशल का मूल है अलोभ, अदोष तथा अमोह। इन कर्मों का सम्यक ज्ञान रखना आवश्यक है।

2. **सम्यक संकल्प -** सम्यक निश्चय। सम्यक ज्ञान होने पर ही सम्यक निश्चय होता है। निश्चय निष्कामता का अद्रोह का तथा अहिंसा का होना चाहिये। कामना ही समस्त दुःखों की उत्पादिका है। अतः प्रत्येक पुरुष को इन बातों का दृढ सकल्प करना चाहिये कि वह विषय की कामना न करेगा प्राणियों से द्रोह न करेगा और किसी भी जीव की हिंसा न करेगा।

3. **सम्यक वचन** - ठीक भाषण। असत्य पिशुन वचन (चुगली) कटु वचन तथा बकवाद इन सबको छोड़ देना नितान्त आवश्यक है। सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नही है। जिन वचनों से दूसरों के हृदय को चोट पहुँचे जो कटुवचन हो दूसरे की निन्दा हो व्यर्थ का बकवाद हो उन्हे कभी नहीं कहना चाहिये बैर की शान्ति कटु वचनो से नही होती प्रत्युत 'अबैर' से ही होती है।

व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्त्रों काम भी निष्फल होते हैं। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है, जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है। शान्ति का उत्पन्न करना वाक्य प्रयोग का प्रधान लक्ष्य है। जिस पद से इस उद्देश्य की सिद्धि नही होती उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है।

4. **सम्यक कर्मान्त** - मनुष्य की सद्गति या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही होता है। कर्म के ही कारण जीव इस लोक में सुख या दुःख भोगता है हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मों का सर्वदा तथा सर्वथा परित्याग अपेक्षित है। इन्ही की सञ्ज्ञा पञ्चशील है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, मद्य आदि मादक पदार्थो का असेवन। इन कर्मों का अनुष्ठान सबके लिये है। इन का सम्पादन करना चाहिये क्योकि इनका परित्याग करने वाला अपनी ही जड़ खोदता है। इनका सम्पादन करके मनुष्य आत्म विजय पाता है। आत्मा ही अपना नाथ है अपने को छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नही है। अपने ऊपर विजय पाना ही मानव की अनन्त शान्ति का चरम साधन है।

5. **सम्यक आजीव** - झूठी जीविका को छोड़कर सच्ची जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना। विना जीविका के जीवन धारण करना असम्भव है। मानव मात्र को शरीर रक्षण के लिये कोई न कोई जीविका ग्रहण करनी पड़ती है, परन्तु यह जीविका सच्ची होनी चाहिये जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का क्लेश पहुँचे न उनकी हिंसा का अवसर आये। समाज व्यक्तियों के समुदाय से बना है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करने मे लगे तो समाज का वास्तविक मंगल होता है।

6. **सम्यक व्यायाम** - ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग, सत्कर्मों के करने की भावना करने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये। इन्द्रियों पर संयम बुरी भावनाओ को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन करने का प्रयत्न, उत्पन्न हुई अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयत्न- ये सम्यक व्यायाम हैं। विना प्रयत्न किये चञ्चल चित्त से शोभन भावनायें दूर भागती हैं और बुरी भावनाये घर जमाया करती है। अतः यह उद्योग आवश्यक है।

7 सम्यक स्मृति स्मृति प्रस्थान चार है 1 कायानुपश्यना 2. वेदनानुपश्यना 3 चित्तानुपश्यना 4. धर्मानुपश्यना। काय, वेदना चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना नितान्त आवश्यक होता है। काय, मलमूत्र केश तथा नख आदि पदार्थों का समुच्चय मात्र है। शरीर को इस रूप में देखने वाला पुरुष 'काये कायानुपश्यी' कहलाता है। वेदना तीन प्रकार की होती है - मुख - दुःख न सुख न दुःख। वेदना के इस स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति वेदना मे वेदनापुश्यी कहलाता है। चित्त की नाना अवस्थायें होती है कभी वह सराग होता है कभी विराग, कभी सद्वेष और कभी वीत द्वेष, कभी समोह तथा कभी वीत मोह होता है। चित्त की इन विभिन्न अवस्थाओं में उसकी जैसी गति होती है, उसे जानने वाला पुरुष चित्त में चित्तानुपश्यी होता है। धर्म भी नाना प्रकार के होते हे - कामुकता, द्रोह, स्त्यानमृद्ध (शरीर मन की आलसता) उद्वेग - खेद संशय आदि इनके स्वरूप को ठीक ठीक जानकर उनको उसी रूप में जानने वाला पुरुप धर्म मे धर्मानुपश्यी कहलाता है। काय तथा वेदना का जैसा स्वरूप है उसका स्मरण सदा बनाये रखने से आसक्ति उत्पन्न नही होती। चित्त अनासक्त होकर वैराग्य की ओर बढता है तथा एकाग्रता की योग्यता का सम्पादन करता है।

सम्यक समाधि - ज्ञान के विना मुक्ति नही मिलती। ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नही हो सकती जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में पैदा नही हो जाती। ज्ञान के उदय के लिये शरीर की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। शील ओर समाधि के द्वारा क्रमशः काय शुद्धि और चित्त शुद्धि की जाती है।

वुद्ध धर्म के तीन महनीय तत्व है - शील समाधि और प्रज्ञा। अष्टांगिक मार्ग के प्रतीक ये तीनो ही है। शील से तात्पर्य सात्विक कार्यो से हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मद्य का निषेध ये पञ्चशील कहलाते हैं और इनका अनुष्ठान प्रत्यक व्यक्ति के लिये विहित है। गृहस्थ के लिये अपने माता पिता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा सज्जनों का सत्कार प्रतिदिन करना चाहिये।

बुरे कर्मो के अनुष्ठान से सम्पत्ति का नाश अवश्यम्भावी है। नशा का सेवन, चोरस्ते की सैर, नाच गाना का सेवन, जुआ खेलना, दुष्ट मित्रों की संगति तथा आलस्य में फसना ये छहो सम्पत्ति के नाश के कारण हैं।

शील तथा समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय। भवचक्र के मूल में अविद्या विद्यमान है। जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता तब तक अविद्या का नाश नही हो

सकता। साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि मे होता है। प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है 1. श्रुतमयी- आप्त प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय 2. चिन्तामयी - युक्ति से उत्पन्न निश्चय 3. भावनामयी- समाधिजन्य निश्चय। श्रुत- चिन्ता प्रज्ञा से सम्पन्न शीलवान पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान व्यक्ति नाना प्रकार की सिद्धियाँ ही नही पाता प्रत्युत प्राणियों के पूर्व जन्म का ज्ञान, परिचित्त ज्ञान, दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्षु तथा दुःख क्षण ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है। उसका चित्त कामास्त्रव (भोग की इच्छा) भवास्त्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्त्रव अज्ञान मल से सदा के लिये विमुक्त हो जाता है।

भगवत् गीता में योग विचार

भगवत गीता को योग शास्त्र भी कहते हैं। योग शब्द सम्बन्ध वाचक है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध जीव और शिव के समन्वय का सिद्धान्त ही योग कहलाता है। जीव और ईश्वर में सम्बन्ध के तीन साधन बताये गये हैं कर्म, भक्ति और ज्ञान इस प्रकार योग तीन प्रकार का हुआ कर्म योग, भक्ति योग और ज्ञान योग। गीता इन तीनों की त्रिवेणी है इन तीनो योगो का पृथक-पृथक वर्णन तो अनेको शास्त्रों में प्राप्त होता है परन्तु इन तीनो योगो का समन्वय गीता की सबसे बड़ी विशेषता है।

गीता में योग शब्द सम्बन्ध वाचक है। युज् धातु से योग शब्द बनता है जिसका अर्थ मिलना या सम्बन्ध स्थापित करना है। गीता का यह योग पातञ्जल योग से भिन्न है। पातञ्जल में चित्त वृत्ति निरोध को ही योग बतलाया गया है। गीता के योग में समाधि नही वरन् सोपान है साध्य नही वरन् साधन है लक्ष्य नही वरन् मार्ग है। कर्म योग, ज्ञान योग, भक्तियोग ये तीनो ईश्वर प्राप्ति के मार्ग हैं। ये तीनो ब्रह्मतत्त्व के अभिन्न अंग हैं। तीनो समानतः महत्वपूर्ण हैं। तीनों का फल समान है ब्रह्म प्राप्ति या ईश्वर से मिलन। जिसे जो मार्ग समान लगे या जिसकी स्वाभाविक रुचि जिसमे हो वह उस मार्ग का अनुसरण करें।

कर्मयोग - कर्मयोग ही गीता का मुख्य विषय है। इसी का उपदेश भगवान ने गीता मे दिया है। अर्जुन के माध्यम से भगवान ने सभी को कर्मयोग का पाठ पढ़ाया है। भगवान ने स्वयं कहा है कि कर्म मार्ग बड़ा कठिन है। हम कर्म किये बिना नही रह सकते। अतः कर्म कैसे करना चाहिये यह जानना आवश्यक है।

साधारणतः हम कर्म करते हैं और अपने आपको कर्ता समझते हैं। यही

कर्तापन अभिमान या अहंकार है। कर्मयोगी वह है जो इस अभिमान से रहित कर्म करे परन्तु कर्तापन के विना कर्म कैसा? इसकी व्याख्या करते हुए भगवान कहते हैं कि किसी कर्म के पाँच कारण होते है। अधिष्ठान, कर्ता, करण (इन्द्रियाँ), चेष्टा और दैव या ईश्वरीय शक्ति। इन पाँचों के समूह से ही किसी कार्य का सम्पादन होता है। इनमे से किसी एक ही के द्वारा क्रिया का सम्पादन समझना भूल या अज्ञान है। अधिष्ठान या देह किसी कार्य का पहला कारण है, क्योंकि देह या शरीर के बिना कोई कार्य सम्भव ही नही। शरीर के कारण ही भोक्ता भोग्य विषयों की प्राप्ति के लिये कर्म करता है। यदि शरीर ही नही तो कर्म का प्रारम्भ ही सम्भव नही। पुनः कर्ता को कर्म का दूसरा कारण कहा है। कर्ता में चेतन शक्ति है। इस चेतन शक्ति के ही कारण मनुष्य निर्णय करता है कि उसे कौन सा कर्म करना चाहिये कि उसे सुख मिले। यही कार्य का ज्ञान या कृति साध्यता है। जब तक किसी अनुकूल कार्य का ज्ञान न हो मनुष्य कार्यरत नही होता। अतः कर्ता कार्य के ज्ञान का दूसरा कारण है। पुनः करण या इन्द्रियों की भी किसी कार्य में आवश्यकता है। इन्द्रियो के बिना किसी कर्म का सम्पादन सम्भव नही है। हम अपनी कर्मेन्द्रियों से ही कोई कार्य करते हैं। इन कर्मेन्द्रियों का रहना अत्यंत आवश्यक है अत. इन्हें कारण कहा गया है। चेष्टा प्रयास को कहते है। कर्मेन्द्रियों के रहते हम कोई प्रयास न करें तो कार्य नहीं होगा। अत कर्मेन्द्रियों को कर्म में लगाना चौथा कारण है। इसके अतिरिक्त दैव शक्ति या ईश्वरीय शक्ति पॉचवां कारण है। जब इन पॉच कारणों से किसी कार्य का सम्पादन होता है तो एक कर्ता को ही कारण मान लेना केवल अभिमान है अहंकार के अतिरिक्त और कुछ नही है। हम केवल मिथ्याभिमान के कारण ही अपने आपको क्रिया का कर्ता समझ लेते हैं। इस अहंकार से शून्य हो कर्म करना कर्मयोग है। वस्तुतः सभी कर्म शरीर और इन्द्रियों द्वारा सम्पादित होते हैं परन्तु अज्ञानी पुरुष शरीर और इन्द्रियों के कर्म का अपने आपको कर्ता समझ लेता है। शरीर और इन्द्रिया प्रकृति प्रसूत हैं अर्थात माया से उत्पन्न हैं। माया परमेश्वर की क्रिया शक्ति है इस माया से ही शरीर और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। यह माया जड़ है चेतन नही। चैतन्य तो ज्ञाता आत्मा है। यह आत्मा अपने अज्ञान के कारण अपने चेतन स्वरूप को भूल जाता है तथा अचेतन प्रकृति के द्वारा किये कर्मों का कर्ता अपने को समझने लगता है। वस्तुतः आत्मा का स्वरूप ज्ञातापन है कर्तापन नही इस स्वरूप को भूलने के कारण ही मनुष्य में अहंकार उत्पन्न होता है कि सभी शारीरिक क्रियाये मेरे से ही हो रही हैं। वस्तुतः सभी कर्म शरीर से सम्पादित होते हैं इन्द्रियों के द्वारा किये जाते हैं।

साधारणतः मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है आसक्ति कर्म के

लिये प्रेरणा देती है। हम सुख प्राप्ति तथा दुःख परिहार के लिये कर्म करते हैं। अत आसक्ति को ही कर्म का मूल बताया गया है। इसलिये कर्मयोगी को सुख दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय रूपी द्वन्द से ऊपर उठकर कर्म करना चाहिये। कर्मयोगी के लिये स्वकर्म ही स्वधर्म है। स्वधर्म का आचरण ही मनुष्य का पुनीत कर्तव्य है। मनुष्य के न चाहने पर भी उसे स्वकर्म करना पड़ता है। उसकी प्रकृति उसे निश्चित कर्म को करने के लिये वाध्य करती है। वह स्वभावजन्य कर्म से बंधा हुआ पराधीन व्यक्ति है। वह संकल्पों के अनुसार कर्म करने में स्वतंत्र नही है। अतः कर्मयोगी के लिये स्वकर्म ही स्वधर्म है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं सकाम और निष्काम। सकाम कर्म बन्धन का जनक है और निष्काम कर्म बन्धन का उच्छेदक। हम किसी कामना या इच्छा से प्रेरित होकर ही शारीरिक या मानसिक कर्म कहते हैं। यही सकाम कर्म कहलाता है। हम फलाकाक्षा के वशीभूत होकर कर्म करते हैं तथा उसका शुभ या अशुभ फल भोगते हैं। पुन कामना से आक्रान्त होकर कर्म करते हैं और फल भोगते हैं। इस प्रकार कर्म की अनवरत धारा चलती रहती है दूसरे प्रकार का कर्म निष्काम कर्म है। इसमें कामनाओ का सर्वथा अभाव रहता है इन कर्मो से बन्धन नही होता क्योंकि बन्धन के मूल कारण कामना का इसमें अभाव रहता है। निष्काम कर्म तृष्णा रहित कर्म है। तृष्णा के अभाव में मनुष्य कर्म करते हुए कर्म फल का कारण नहीं वनता।

मनुष्य का कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नही। इसलिये मानव कर्म करने में ही स्वतंत्र है फल भोगने में नही क्योंकि फल का विधान करना विधाता के हाथ में है। निष्काम कर्म के दो अंश है कर्तापन या ममता का त्याग एव आसक्ति या तृष्णा का त्याग। किसी भी कायिक या मानसिक कर्म में कर्तत्व का अभाव और कामना का अभाव यदि रहे तो वह कर्म निष्काम या अनासक्त कर्म कहलाता है। यह कर्म बन्धन का साधक नही है।

जिस प्रकार भुने हुए बीज में अंकुरित होने की शक्ति नही होती है उसी प्रकार राग द्वेष से रहित कर्म में बन्धन की शक्ति नही होती। इस प्रकार के कर्म को करता हुआ भी मनुष्य अकर्ता है, क्योंकि इन कर्मों में फलोत्पादिका शक्ति नही होती है।

कर्तापन का अभाव तभी हो सकता है। जब मनुष्य समझे कि कर्म तो प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। अतः ज्ञानी मनुष्य सभी कर्मों को प्रकृति के गुणों द्वारा कृत मानता है। प्रकृति के तीन गुण हैं इन तीनों गुणों से ही मन, बुद्धि, अहंकार श्रोतादि दस इन्द्रियां और शब्दादि पाँच विषय उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के कारण ही अंतःकरण और इन्द्रियों का विषय ग्रहण करना आदि कार्य होता है। बुद्धि विषय का

निश्चय करती है, मन मनन करता है, कान सुनता है आँख देखती है आदि। सभी कार्य गुणों के द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। अतः मनुष्य में कर्तापन का अभिमान कवल अज्ञान ही है। आसक्ति के त्याग के लिये भगवान ने बतलाया है कि कर्म का ईश्वर अर्पण करना चाहिये। तदर्थ कर्म में ममता अवश्य होगी परन्तु भगवदर्थ कर्म में ममता या आसक्ति का सर्वथा अभाव होगा। निष्काम कर्म का अर्थ कुछ लोग काम्य कर्मों का त्याग समझते है। उदाहरणार्थ स्त्री पुत्र धन आदि के लिये यज्ञ दान तप आदि काम्य कर्म हैं इनका त्याग ही काम्य कर्म का त्याग है। कुछ लोग निष्काम कर्म से निषिद्ध कर्मों का त्याग समझते हैं उदाहरणार्थ चोरी, व्यभिचार, झूठ आदि कर्मों को न करना। परन्तु गीता में निष्काम कर्म का अर्थ है संसार के सभी कर्मों म ममता और आसक्ति का सर्वथा त्याग। यही त्याग निष्काम कर्म का आदर्श है। निष्काम कर्म में कर्मों का त्याग नही वरन् कर्मफल का त्याग किया जाता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म ईश्वरार्थ कर्म है। निष्काम कर्म का आचरण ही स्वकर्म है और स्वकर्म ही स्वधर्म है। इस स्वकर्म या स्वधर्म के आचरण से मानव को सिद्धि प्राप्त होती है। अतः स्वाभाविक कर्म का अनुष्ठान ही कर्मयाग है। यही कामना रहित कर्मानुष्ठान है। इस अनुष्ठान से ही मानव को शान्ति ओर सिद्धि मिलती है। कर्तव्य कर्तव्य के लिये गीता की शिक्षा है। इसी कारण कर्मयोग कर्मकाण्ड से अधिक महत्वपूर्ण है। कर्म को साधन तो सभी शास्त्र मानते हैं परन्तु कर्म को साध्य केवल गीता बतलाती है। गीता का स्वकर्म स्वधर्म है। कर्म को परमेश्वर की पूजा समझकर करना। कर्मयोग की पराकाष्ठा है अनासक्ति से सम्पन्न होकर सब कुछ विश्वात्मा परमात्मा का है, ऐसा समझकर परमात्मा के चरणों में अपने सभी कर्मों को अर्पित करने वाला कर्मयोगी सबसे बढ़कर है। कर्मयोगी स्वार्थ की भावना से नही बल्कि परार्थ की भावना से प्रेरित होता है।

ज्ञानयोग - ज्ञानयोग ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने का आध्यात्मिक मार्ग है। ज्ञान मार्ग के द्वारा भी जीव और शिव का सम्बन्ध हो सकता है। यह सम्बन्ध परमात्मा से तदात्म्य या एकीकरण है। ज्ञान योगी आत्मरूप की परमात्मा का स्वरूप समझता है, वह परमात्मा से भिन्न नहीं वरन् अभिन्न है। यही तदाम्य भाव है। ज्ञान योगी के लिये सृष्टि ईश्वरमग्न है सृष्टि और सृष्टा में कोई भेद नही। जगत परमात्मा का ही स्वरूप है। परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं (भेद मिथ्यादृष्टि है, अभेद यथार्थ है)। भेद देखने वाला अज्ञानी है और अभेद देखने वाला ही ज्ञानी है।

ज्ञान योग की सबसे बड़ी विशेषता समत्व योग है। समत्व योग के तीन स्वरूपों का वर्णन गीता में किया गया है - आत्मगत समत्व, वस्तुगत समत्व और गुणातीत समत्व।

आत्मगत समत्व - इसे गीता में स्थितप्रज्ञ भी कहा गया है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। इसका अर्थ है जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी हो। इसके तीन लक्षण बताये गये हैं, वह मन में रही हुई सभी कामनाओं और वासनाओं को सब प्रकार से छोड देता है। वह परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है। वह दुःख से उद्विग्न नही होता तथा सुख की सर्वथा लालसा नहीं करता। तीसरा लक्षण साधारण मनुष्य के लिये सम्भव नही। जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है वही दुःख में व्याकुल नही होता और सुख की लालसा नहीं करता। उसके मन में राग, भय, क्रोध आदि नहीं रहते। वह किसी से घृणा नहीं करता, किसी के प्रति अपने मन में द्वेष नही रखता।

वस्तुगत समत्व - अच्छे बुरे, मित्र और शत्रु में समभाव रखना ही वस्तुगत समत्व है। जिसकी दृष्टि में समता है उसका कोई शत्रु नही है। सम्पूर्ण संसार को ही अपना परिवार समझता है। वह तृष्णा क्रोध भय से मुक्त होता है।

गुणातीत समत्व - यह सुख दुःख से परे की अवस्था है। भगवान कृष्ण ने कहा है कि जो सुख और दुःख को एक सा जानता है वही धीर है। शीत और उष्ण जिसे विचलित नहीं करते वही अमरत्व का अधिकारी है। सच्चे योगी को सुख से प्रसन्न और दुःख से दुःखी नही होना चाहिये। वह उपलब्धि और अनुपलब्धि में समभाव से रहता है। उसके लिये मृत्तिका और कञ्चन अनुकूल और प्रतिकूल, निन्दा ओर स्तुति मान और अपमान शत्रु और मित्र समान होते हैं। यही गुणातीत समत्व है।

गीता मे ज्ञान योगी को समदर्शी कहा गया है। ज्ञान के कारण वह सम्पूर्ण चराचर प्राणी को समभाव से देखता है। उसमें कभी विषम भाव नही उत्पन्न होता है। गीता में कहा गया है कि, ज्ञानी जन विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गौ मे, हाथी मे, कुत्ते में और चाण्डाल में भी समदर्शी होते है।

तात्पर्य यह है कि तत्व ज्ञानी का विषम भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है उसकी दृष्टि में सच्चिदानन्द परमात्मा की ही सत्ता है। अतः उसकी दृष्टि में सर्वत्र समभाव हो जाता है। क्योंकि तत्व ज्ञानी सबको ब्रह्म स्वरूप या आत्म स्वरूप मानता है। ब्राह्मण और चाण्डाल में व्यावहारिक दृष्टि से भेद है परन्तु परमार्थिक दृष्टि से अभेद है। इसी दृष्टि से भगवान कहते हैं कि जिस क्षण पुरुष भूतों में पृथक भावों की एक परमात्मा में ही स्थिति तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में प्राप्त हो जाता है।

भक्ति योग - योग सूत्र के अनुसार भक्ति ईश्वर प्रणिधान है इसके कारण ही भक्त का हृदय परमात्मा के प्रति श्रद्धा से ओत-प्रोत हो जाता है। ईश्वर के प्रति

असीम अनुराग के कारण वह सब कुछ भूल जाता है भगवान के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देता है श्रद्धा और आत्म समर्पण के कारण भगवान भक्त को शरणागति प्रदान करते हैं। शरणागत भक्त भगवान का सामीप्य पाकर गद्गद् हो उठता है और अपने को धन्य समझता है। भक्त मोक्ष की इच्छा नही करता वरन् सदा भगवान के चरणों में निवास करना चाहता है। भक्त के नौ प्रकार माने गये है। भगवान के गुणों को सुनना, गुणों का स्मरण करना, गुणगान करना, उसके चरणों की सेवा करना, पूजा करना, भगवान की दासता स्वीकार करना, भगवान को ही अपना मित्र सखा समझना और भगवान के समाने आत्म समर्पण करना। इनमें से भक्त के एक गुण या सभी गुण पर्याप्त है। स्वयं भगवान कहते हैं मैं योगियों के हृदय में नही रहता, न तो मैं स्वर्ग रहता हूँ, अपितु मैं वहीं निवास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा गुणगान करते हैं।

भगवान का भजन अर्चन उपासना ध्यान आदि करना ही भगवान की भक्ति है। भक्त भगवान के सगुण रूप में अनुरक्त रहता है निर्गुण रूप में नहीं वह साकार ईश्वर की उपासना करता है। भक्त ईश्वर की उपासना द्वैत भाव से करता है। भगवान तथा भक्त में भेद है। भगवान पूर्ण है। भक्त अपूर्ण। भगवान असीम है भक्त ससीम।

भक्ति योग का मुख्य तात्पर्य अनन्य भाव है। परम पूज्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे का भाव मन में न लाना ही अनन्य भाव कहलाता है। अनन्य भाव से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। जिस परमात्मा के अंदर सर्वभूत है और जिस सच्चिदानंद परमात्मा से यह समस्त जगत् परिपूर्ण है वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है। सर्वाधार, सर्वान्तरयामी सर्वशक्तिमान परमेश्वर में ही सब कुछ समर्पण करके सदा संतुष्ट रहना और सब प्रकार से अनन्य प्रेम पूर्वक नित्य निरंतर उनका स्मरण करना ही अनन्य भक्ति है। इस अनन्य भक्ति के द्वारा साधक अपने उपास्य देव परमेश्वर को प्राप्त करता है।

भगवान कहते हैं कि, जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा निरन्तर मुझे परमेश्वर को स्मरण करता है, उस नित्य निरंतर मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मै सुलभ हूँ। अर्थात उसे सहज प्राप्त हो जाता हूँ। तात्पर्य यह है कि जिसका चित्त अन्य किसी वस्तु में न लगकर निरंतर अनन्य प्रेम से परमेश्वर में लगा रहता है वही अनन्यचेता है वह सर्वदा भगवान के स्वरूप नाम, गुण लीला आदि का चिन्तन और स्मरण करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। अनन्य भक्ति का स्वरूप बताते हुए भगवान गीता में कहते हैं कि जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मो को

करता है मेरा परायण है मेरा भक्त है अनासक्त है और सभी प्राणियों में वैर भाव से रहित है वही अनन्त भक्ति सम्पन्न पुरुष मुझको प्राप्त करता है।

अनन्य चित्त होने के साथ-साथ भगवान में शरणागति की भावना ही भक्तियोग के लिये आवश्यक है। शरणागति का महत्व बतलाते हुए स्वयं भगवान कहते हैं कि सभी धर्मो को छोडकर तुम मेरी शरण में आओ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूगा। भगवान को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकार से उन पर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान का समझकर और भगवान को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मो में ममता, अभिमान आसक्ति और कामना का त्याग कर भगवान की आज्ञानुसार उनकी सेवा श्रद्धा अनन्य प्रेमपूर्वक उनका नाम गुण प्रभाव लीला तत्त्व स्वरूप का नित्य निरंतर श्रवण कीर्तन कथन करना ये सभी ईश्वर की शरणागति के अंतर्गत है। इसी को सर्वभाव से शरणागति कहते हैं।

योग समन्वय - गीता भक्ति ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी है। इन तीनो योगो का समन्वय गीता की सबसे बड़ी विशेषता है। गीता सर्वशास्त्रमयी है। समस्त शास्त्रो का मन्थन कर अमृतमयी गीता का अविर्भाव हुआ है। सर्व सिद्धान्तों का युक्तियुक्त समन्वय गीता के समान अन्यत्र उपलब्ध नही है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों मोक्ष के मार्ग है। इन तीन विभिन्न मार्गो। से हम एक ही स्थान पर पहुँचते हैं जिसे मोक्ष या परम प्राप्ति कहते हैं। ईश्वर प्राप्ति भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनो से हो सकती है।

गीता को ब्रह्म विद्या माना गया है और ब्रह्मविद्या ही उपनिषदों की मुख्य विषय है। इसी कारण गीता को उपनिषदों का साररूप समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मतत्त्व का निरूपण उपनिषदों में विस्तारपूर्वक किया गया है, उसे गीता सरल और सुबोध में प्रस्तुत करती है। यह गीता की सबसे बड़ी विशेषता है।

भक्ति ज्ञान और कर्म तीनो भगवान के द्वारा बताये गये मार्ग एवं शास्त्रोक्त साधन हैं। तीनों में किसी को कम या अधिक महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। तीनो समान है। सभी मनुष्य समान नही होते सभी की प्रकृति एक सी नही होती सभी मनुष्यों का शरीर तो त्रिगुणात्मक है। अर्थात सत्व रज और तम के सम्मिश्रण से बना है परन्तु किसी मे सत्व गुण की प्रधानता है किसी में रजोगुण की और किसी मे तमोगुण की। इसी कारण मनुष्य की प्रकृति में भेद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति स्वभावतः निवृत्ति मार्ग को चाहता है तो कोई व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग को। किसी को कर्म करने में सुख मिलता है तो किसी को कर्म छोड़ने में ही सुख मिलता है और किसी को भक्ति में ही महान आनन्द प्राप्त होता है। अतः तीनो मार्ग योगियों के रुचि

के अनुकूल है जिसको जो अच्छा लगे उसे उसी मार्ग को अपनाना चाहिये वही उसके लिये फलदायक है।

भगवान ने गीता में तीनो योगों का समन्वय किया है। तीनो योगो का समन्वय करते हुए भगवान कहते है कि हे अर्जुन तुम अपना मनतद्रूप कर लो अर्थात मुझ मे मन वाला हो जाओ, मेरा भक्त बन मेरे प्रेम के रंग में रंग जाओ। सभी स्थान पर मेरा अस्तित्व समझ कर मेरी वन्दना करो। केवल मेरी ही ओर लक्ष्य रखकर सभी संकल्पो को अन्त कर डालना ही मानो मेरी पूजा है। जब इस प्रकार तुम मेरे ध्यान से सम्पन्न हो जाओगे तभी तुम मेरा स्वरूप प्राप्त कर सकोगे।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मायेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।

इस उपदेश में भगवान ने भक्ति ज्ञान और कर्म का समन्वय किया है।

सूर्यभेदी नमस्कार

कुछ प्रमुख आसनो का एक निश्चित क्रम में रखकर आसनों की एक श्रृंखला बनायी गयी है इसे सूर्यभेदी व्यायाम या सूर्य नमस्कार कहते हैं। इन आसनों के करने से शरीर के सब अंगो का संचालन हो जाता है और स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है। इनका क्रम निम्नवत है।

(1) **नमस्कार आसन** - सीधे खड़े होकर पाँव नितम्ब, पीठ गला और सिर समसूत्र में रखकर दोनो हाथ जोड़कर नमस्कार करना।

(2) **उर्ध्व नमस्कार आसन** - दोनो हाथो को सीधे ऊपर ले जाकर उर्ध्व दिशा मे हाथ जोड़कर नमस्कार करना। इसमें पेट को यथा संभव आगे की ओर बढ़ाकर हाथों को जितना हो सके उतना पीछे हटाना होता है।

(3) **हस्त पादासन** - हाथों को ऊपर से नीचे लाकर दोनो पांवो के दोनो ओर भूमि पर रख दें घुटने सीधे रहें और पेट अंदर आकर्षित रहे।

(4) **एक पाद प्रसणासन** - एक पाँव जितना हो सके पीछे ले जाकर सीधा फैलाना हाथ जहाँ थे वहीं रहें।

(5) **द्विपाद पसरणासान** - दूसरे पाँव को भी पीछे ले जाकर सीधे फैलाना। इसमें भूमि में पाँव के साथ पाँव और हाथ के साथ हाथ रखना होता है।

(6) **भूधरासन** - पाँव जितना पीछे ले जाये परन्तु घुटने सीधे रहना चाहिये और पाँव के तलवे जमीन को पूरे लगने चाहिये। कोहनी के साथ हाथ सीधे रखने चाहिये ठोड़ी कण्ठ कूप से लगनी चाहिये और पेट अन्दर आकर्षित होना चाहिये।

(7) **अष्टाग प्रणिपातासन** दोनो पाव, दोनो घुटन, दोनो हाथ, छाती और मस्तक भूमि पर स्पर्श करना चाहिये पेट भूमि को न लगना चाहिये। पेट को बल के साथ अन्दर खींचना चाहिये।

(8) **सर्पासन** - सर्प के समान इस आसन में सिर जितना पीछे ले जाय और छाती जितनी बढ़ सके बढ़ाये। हाथ और पाँव ही भूमि को स्पर्श करें, शेष शरीर भूमि से कुछ अन्तर पर रहे।

(9) **भूधरासन** - क्रम संख्या 6 की तरह।

(10) **द्विपाद प्रसरणासन** - क्रम संख्या 5 की तरह से।

(11) **एक पाद प्रसरणासन** - क्रम संख्या 4 की तरह से।

(12) **हस्त पादासन** - क्रम संख्या 3 की तरह से।

(13) **उपवेशासन** - हस्त पादासन में हाथ और पैर को अपने स्थान में रखते हुए सरल रीति से बैठ जाय।

पुनः क्रम संख्या एक से उपरोक्त क्रमों को तेरह बार करें।

❑❑